समाधान । यद्यपि वेदमें वक्ताका अभाव होनेसे इच्छारूप अर्थ नहीं बन सकता है; तथापि उपादानरूप फल करके इच्छाका उपचार करते हैं अर्थात् जो वस्तुकी विवक्षाका फल है तिसका नाम उपादान है, सो ग्रहण अथवा स्वीकाररूप है। और जो स्वीकाररूप उपादान है सो प्रकृत सत्यसंकल्पादिक गुणोंमें है। अतः विवक्षाका उपचार बन सकता है।

शंका । यह वस्तु ग्राह्य है तथा यह वस्तु त्याज्य है इस प्रकारका जो ज्ञान है, सो वेदमें विवक्षाके अधीन किस प्रकार होगा, क्योंकि वेदमें वक्ताका अभाव है?

समाधान । जैसे लोकमें जिस शब्द करके अभिहित जो वस्तु उपादेय होती है, सो उपादेय वस्तु तिस शब्दसे विवक्षित कही जाती है। और जो अनुपादेय वस्तु है सो अविवक्षित कही जाती है। तैसे वेदमें भी उपादेयरूप करके अभिहित जो वस्तु है, सो विवक्षित कही जाती है। और उपादेयसे भिन्न जो वस्तु है, सो अविवक्षित कही जाती है। और वस्तुका उपादान व अनुपादान जो है, सो वेदवाक्योंके तात्पर्य तथा अतात्पर्य करके निश्चित होता है। और 'फलवदर्थविषयक प्रतीतिमें अनुकूलत्व' जो शब्दमें है तिसका नाम तात्पर्य है। वेदको इस तात्पर्यवाला होनेसे इस प्रकरणमें उक्ततात्पर्यवाले श्रुत जो सत्यसंकल्पादिक गुण हैं, तथा उपासनामें उपादेयरूप करके निर्दिष्ट हैं, सो ग्राह्य व विवक्षित कहे जाते हैं। और ये गुणपरब्रह्ममें ही बन सकते हैं जीवमें नहीं।

और **'य आत्मापहतपाप्मा'** इस मन्त्रमें भी 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः पर आत्मा है' ऐसा ही श्रवण होता है। अतः जगत्की सृष्टि स्थिति, संहारमें अप्रतिबद्ध शक्तिवाला होनेसे परमात्मामें ही सत्यसंकल्पत्वादिक गुणोंकी उपपत्ति बन सकती है।

और **'आकाशात्मा'** आकाशवत् है आत्मा कहिये स्वरूप जिस परमात्माका

---

†**शंका** । ककारादिक वर्णोंके नित्य विभु होनेसे विभु पदार्थोंकी क्रम (पौर्वापर्य) स्वरूप आनुपूर्वी बने नहीं।

समाधान । यद्यपि व्यापक वर्णोंकी आनुपूर्वी नहीं बन सकती है, तथापि व्यञ्जकध्वनिगत व उच्चारणगत आनुपूर्वीका व्यङ्ग्यमें आरोप होता है।

शंका । ध्वन्यादिगत क्रमका प्रतिकल्पीय ध्वन्यादिक वैचित्र्यसे वैचित्र्य अवश्य होगा।

समाधान । वेदाभिव्यञ्जक ध्वन्यादिमें भी वैचित्र्यका स्वीकार नहीं है। वैदिक शब्दानुपूर्वी प्रयोजक ध्वनिमें व उच्चारणमें जो वैचित्र्य भासता है सो जीवीय दोषप्रयुक्त उच्चारणमें व ध्वनिमें है, वेदकी आनुपूर्वीमें वैचित्र्य नहीं है। अर्थात ईशकर्तृक वेद उच्चारणमें व तत्प्रयुक्त ध्वनिमें वैचित्र्य नहीं है। अतः वैदिक आनुपूर्वी सदा अविचित्र एक रस रहती है। यह अवैचित्र्य ही वेदमें महत् प्रामाण्यका साधक है।

तिसका नाम आकाशात्मा है। यहां सर्वगतत्वादिक धर्मों करके आकाशका साम्य भी ब्रह्ममें बन सकता है।

और 'ज्यायान् पृथिव्याः' इत्यादिक मन्त्र भी इसी अर्थको दिखाते हैं। और 'आकाशात्मा' यहां–'आकाश है आत्मा जिसका तिसका नाम आकाशात्मा है' यदि ऐसा व्याख्यान करें तो भी सर्व जगत्का कारण सर्वात्मस्वरूप ब्रह्ममें आकाशात्मत्व भी बन सकता है। अतः 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्यादिक स्वरूप भी ब्रह्म कहा है। इस पूर्वोक्त रीतिसे इस प्रकरणमें उपास्यरूप करके विवक्षित जो पूर्वोक्त गुण हैं सो ब्रह्ममें ही बन सकते हैं।

और पूर्वपक्षीने जो कहा था कि–'मनोमयः प्राणशरीरः' यह जीवका लिङ्ग है ब्रह्मका नहीं सो भी वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि ब्रह्मको सर्वात्मक होनेसे जीवसम्बन्धी जो मनोमयत्वादिक धर्म हैं, सो सर्व ब्रह्म सम्बन्धी हो सकते हैं।

अब ब्रह्ममें सर्वात्मत्वको दिखाते हैं–'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि' इत्यादिक। अर्थात् तुही स्त्री है, तुही पुरुष है, तुही कुमार है, तुही कुमारी है, और जीर्ण हुवा जो दण्ड करके गमन करता है सो भी तुही है, बालरूपसे उत्पन्न भी तुही होता है, विश्वमें सर्वत्र मुखवाला तुही है इत्यादि। इत्यादिक श्रुति 'सर्वात्मक ब्रह्मही है' इस अर्थको कहती हैं।

और 'सर्वतः पाणिपादं तत्' इत्यादिक। सर्वत्र पाणी तथा पादवाला तुही है, और सर्वत्र अक्षि, शिर, मुखवाला भी तुही है, तथा सर्वत्र श्रोत्र इन्द्रियवाला भी तुही है, तथा सर्वको लपेट व ढक करके तुही स्थित है। इत्यादि श्रुति "सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रसिद्ध जो हस्तपादादिक हैं, सो सर्व ब्रह्मके ही हैं" इस प्रकार प्रतिपादन करती है, अतः ब्रह्ममें सर्वात्मत्व सिद्ध हुवा इति।

और 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः'। यह श्रुति शुद्ध ब्रह्मविषयक है। और 'मनोमयः प्राणशरीरः' यह श्रुति सगुण ब्रह्मविषयक है, यह विलक्षणता जाननी। अतः 'विवक्षितगुणोपपत्तेः' इस सूत्र करके "परब्रह्म ही उपास्यरूप करके उपदिष्ट है जीव नहीं" ऐसा निश्चय होता है इति ॥ २ ॥

शंका। जब जीवगत मनोमयत्वादिक धर्मोंकी ब्रह्ममें योजना करते हो, तब ब्रह्मसे अभिन्न जीवमें भी सत्यसंकल्पादिक ब्रह्मके धर्मोंकी योजना करनी चाहिये।

समाधान। 'समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत्। विषयस्य तुरूपेण समारोप्यं न रूपवत् ॥' अर्थ–जैसे रज्जुमें 'समारोप्य' कहिये कल्पित जो सर्प है, तिस सर्पके भीषणत्वादिक जो धर्म हैं, तिन धर्मोंवाली रज्जु हो सकती है, क्योंकि सर्पदशामें वास्तवी रज्जु विद्यमान है। और रज्जुके धर्म जो अभिगम्यत्वादिक हैं तिन धर्मोंवाला सर्प नहीं हो सकता है। क्योंकि रज्जुमें यथार्थ ज्ञानविषयत्वरूप अभिगम्यत्व कालमें सर्प नहीं है।

तैसे समारोप्य जो कल्पित साभास बुद्धिरूप जीव है, तिस जीवके मनोमयत्वादिक धर्मोंवाला सद् ब्रह्म हो सकता है। क्योंकि जीवदशामें अधिष्ठानरूप ब्रह्म विद्यमान है। और अधिष्ठानरूप परमात्माके धर्मोंवाला जीव नहीं हो सकता है। क्योंकि सर्वात्मत्वादिविषयक यथार्थ ज्ञान कालमें जीवका स्वरूप ही नहीं है। अतः परमात्माके धर्मोंकी योजना जीवमें नहीं बन सकती है इति।

इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं:—

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

अर्थ—१ अनुपपत्तेः, २ तु, ३ न, ४ शारीरः। इस सूत्रमें चार पद हैं। शरीरमें रहनेवाला जो शारीर जीव है सो उपास्य नहीं है। क्योंकि सत्यसंकल्पादिक ब्रह्मके धर्म जीवमें नहीं बन सकते हैं। 'तु' का अर्थ अवधारण है अर्थात् ब्रह्म ही उपास्य है इति।

अब भाष्यकार इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं—पूर्व सूत्रसे ब्रह्ममें विवक्षित सत्यकामत्वादि गुणोंकी उपपत्ति कही है। और इस सूत्र करके जीवमें विवक्षित गुणोंकी अनुपपत्तिको कहते हैं। उक्त सर्वात्मत्व न्यायसे ब्रह्म ही सत्यसंकल्पत्व मनोमयत्वादिक गुणवाला है जीव नहीं। क्योंकि—'मनोमयः प्राणशरीरः' इसी प्रकरणमें 'सत्यसंकल्प आकाशात्मा''अवाक्यनादरो''ज्यायान् पृथिव्याः' इत्यादिक लिखा है। इन पदों करके प्रतिपाद्य जो सत्यसंकल्पत्वादिक परमात्माके धर्म हैं, तिन धर्मोंकी जीवमें ठीक २ उपपत्ति नहीं बन सकती है।

और इस श्रुतिमें जो 'अवाकी' तथा 'अनादरः' ये पद हैं, इन पदोंका अर्थ ऐसा जानना—वाक्इन्द्रियवालेका नाम वाकी है, और वागादिक सर्व इन्द्रिय करके शून्य जो आत्मा है, तिसका नाम अवाकी है। और नहीं है आदर कहिये किसी पदार्थमें कामना जिसको तिसका नाम अनादर है। अर्थात् आप्त कामवाला होनेसे आत्मा नित्य तृप्त है।

शंका। शरीरमें रहनेसे यदि जीवको शारीर कहें तो ईश्वरका नाम भी शारीर होना चाहिये? क्योंकि ईश्वर भी शरीरमें रहता है।

समाधान। यद्यपि शरीरमें ईश्वर है तथापि 'शरीरमें ही है' यह वार्ता नहीं, किन्तु शरीरसे बाहर भी है। क्योंकि 'ज्यायान् पृथिव्याः' 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इत्यादि मन्त्रों करके ब्रह्ममें व्यापित्वका श्रवण होता है। और जीव तो शरीरमें ही रहता है। क्योंकि जीवको भोगका आश्रय होनेसे शरीरसे अन्यत्र जीवकी सत्ता नहीं बन सकती है।

और भाष्यकार भगवान्‌ने जो कहा है कि "सर्वात्मत्व न्याय करके मनोमयत्वादिक गुणवाला ब्रह्म है जीव नहीं" यहां ऐसी शंका होती है कि—आरोप्य जीवमें यदि मनोमयत्वादिक गुण न होवेंगे तो अधिष्ठान ब्रह्ममें भी आरोप्य मनोमयत्वादिक धर्म नहीं बनेंगे। अतः जीवमें ही मनोमयत्वादिक धर्मोंको मानना चाहिये? यद्यपि यह वार्ता सत्य है तथापि उपास्यवृत्तित्वेन विवक्षित

जो मनोमयत्वादिक धर्म हैं सो ब्रह्ममें ही हैं जीवमें नहीं हैं। इस अभिप्रायसे भाष्यकारने कहा है कि—मनोमयत्वादिक धर्मवाला ब्रह्म है जीव नहीं इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे जीवमें विवक्षित मनोमयत्वादिकोंका अभाव सिद्ध हुवा इति ॥ ३ ॥

जीवमें मनोमयत्वादिक विवक्षित गुणोंके अभावमें सूत्रकार हेत्वन्तरको दिखाते हैं:—

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

अर्थ—१ कर्मकर्तृव्यपदेशात्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। पूर्व सूत्रसे नकारका आकर्षण करना, 'च' कहिये पुनः ईशका कर्मत्वेन जीवका कर्तृत्वेन श्रुतिमें 'व्यपदेशात्' कहिये कथन होनेसे मनोमयत्वादिक धर्मवाला जीव नहीं हो सकता इति।

अब श्रुतिको दिखाते हैं—**'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि'**। इस मन्त्रमें 'एतं' यह जो पद है सो प्रकृतमें प्राप्त जो मनोमयत्वादिक गुणविशिष्ट उपास्य ब्रह्म है, तिस ब्रह्मको कर्मरूप करके अर्थात् प्राप्यरूप करके कथन करता है। और 'अभिसंभवितास्मि' यह जो वाक्य है सो शारीर जीवरूप उपासकको कर्तारूप करके अर्थात् प्रापकरूप करके कथन करता है। 'अभिसंभवितास्मि' इसका अर्थ 'प्राप्तास्मि' है अर्थात् मैं उपास्यको प्राप्त होऊँगा। इस मन्त्रोक्त रीतिसे उपास्य उपासकका कल्पित भेद सिद्ध होता है। अतः मनोमयत्वादिक धर्म कर्मरूप उपास्य ब्रह्मके ही बन सकते हैं कर्तारूप जीवके नहीं।

शंका। 'मामहं जानामि' इस वाक्यमें जैसे 'मां' इस कर्मका तथा 'अहं' इस कर्ताका अभेद है, तैसे पूर्वोक्त उपास्य उपासकका भी अभेद बन सकता है। और जब अभेद हुवा तब मनोमयत्वादिक धर्म उपासक जीवके भी हो सकते हैं, अतः यहां जीव ही उपास्य है।

समाधान। 'मामहं जानामि' यहां गतिका अभाव होनेसे कर्म तथा कर्ताका अभेद मान सकते हैं, किन्तु जहां गति (व्यवस्था) बन सकती है तहां कर्म कर्ताका भेद ही मानना चाहिये। क्योंकि 'एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि' यह श्रुति भगवती साक्षात् 'कर्म तथा कर्ताके भेदको' कह रही है, अतः जीव उपास्य नहीं हो सकता इति। और सूत्रकारको अभिप्रेत जो कर्म कर्ताका भेद है तिसको भाष्यकार प्रकारान्तरसे दिखाते हैं:—**'उपास्यउपासकभावोपि भेदाधिष्ठान एव'** इति भाष्यम्। अर्थ—जो उपास्यउपासकभाव है सो भी भेदका आश्रयण करके ही होता है, अत इस विद्यामें मनोमयत्वादिक गुणविशिष्ट जीव उपास्य नहीं है इति ॥ ४ ॥

और भी इसी अर्थमें सूत्रकार हेत्वन्तरको दिखाते हैं:—

शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

अर्थ—इस सूत्रमें एक ही पद है। शब्द विशेषरूप हेतुसे भी मनोमयत्वादिक गुणविशिष्ट

परमात्मा शारीर जीवसे भिन्न ही है। क्योंकि एक विद्याविषयक समान प्रकरणमें लिखा है- **'यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयः'** इस शतपथकी श्रुतिमें जीवात्माका बोधन करनेवाला 'आत्मन्' यह सप्तम्यन्त पद है, यहां इकारका लोप छान्दस जानना, क्योंकि सप्तमी विभक्त्यन्तका रूप 'आत्मनि' ऐसा होता है। और तिस आत्मन् शब्दार्थ जीवसे भिन्न मनोमयत्वादिकगुणविशिष्टका बोधन करनेवाला प्रथमान्त 'पुरुषः' शब्द है। अतः यहां शब्दविशेष (विभक्तिभेद) का श्रवण होनेसे उपास्य उपासकके भेदका निश्चय होता है इति ॥ ५ ॥

हृदयमें स्थित परमात्मामें जीवके भेदको स्मृतिमें भी कहा है। अतः यहां भी मनोमय करके ईश्वरका ही ग्रहण करना चाहिये। इस अर्थको अब सूत्रकार दिखाते हैं:—

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

अर्थ—१ स्मृतेः, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥** "हे अर्जुन! शरीर रूप यन्त्रमें आरूढ़ जीवोंको अपनी माया करके अनेक योनियोंमें भ्रमण कराता हुवा मैं परमात्मा संपूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हूं" इत्यादिक स्मृतियोंमें भी जीव तथा परमात्माका भेद कहा है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—तहां सूत्रकारने जीव तथा परमात्माका जो भेद कहा है सो भेद सत्य है? यह जो शंका है। इस शंकाका यद्यपि 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस अधिकरणमें निरास कर आये हैं। तथापि पुनः इस शंकाको उद्भावन करके निरास करते हैं-**'अत्राह'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् यहां पूर्वपक्षी कहता है कि—परमात्मासे भिन्न कौन शारीर आत्मा है? जिसको 'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' इत्यादि सूत्र करके निषेध करते हो। अर्थात् यदि परमात्मासे भिन्न प्रथम कोई शारीर आत्मा सिद्ध हो लेवे तो उसमें मनोमयत्वादिकोंका निषेध कह सकते हैं सो भेद सिद्ध हो सकता नहिं, क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' इत्यादिक श्रुति परमात्मासे भिन्न अन्य आत्माका निषेध करती हैं। और 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' इत्यादिक स्मृति भी परमात्मासे भिन्न अन्य आत्माका निषेध करती हैं। अर्थात् परमात्मासे भिन्न कोई आत्मा है नहीं जिसमें मनोमयत्वादिकोंका सूत्र निषेध करे? यद्यपि यह पूर्वपक्षीका कहना सत्य है। तथापि वादीसे मैं पूछता हूं कि-वस्तुतः परमात्मासे भिन्न जीव नहीं है? अथवा उपाधि करके भी परमात्मासे भिन्न जीव नहीं है? तहां प्रथम पक्ष तो हमारेको इष्ट है। और द्वितीय पक्ष इष्ट नहीं। क्योंकि जैसे घटकरकादिरूप उपाधि करके, अपरिच्छिन्न आकाशमें परिच्छिन्नत्वकी प्रतीति होती है। तैसे ही देह इन्द्रिय मन बुद्धिरूप उपाधि करके, अपरिच्छिन्न परमात्मामें भी अज्ञानी पुरुष परिच्छिन्नत्वरूप जीवत्वका उपचार करते हैं। और 'तत्त्वमसि' इस वाक्य करके आत्मामें एकत्वके उपदेशको ग्रहण करनेसे प्रथम २

उपाधिकी अपेक्षासे कर्मत्व तथा कर्तृत्वादिक भेद व्यवहार बन सकता है। और जब आत्मामें एकत्वका निश्चय होता है, तब बन्ध मोक्ष व्यवहारकी समाप्ति हो जाती है। अतः पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्मसे भिन्न औपाधिक शारीर आत्मा बन सकता है। तथा इस औपाधिक आत्मामें विवक्षित मनोमयत्वादिकोंका निषेध भी बन सकता है। और परमात्माका तथा औपाधिक आत्माका परस्पर कल्पित भेद भी बन सकता है इति॥ ६॥

अब जीव सम्बन्धी जो अल्पस्थानत्व तथा अणीयस्त्व रूप लिङ्गद्वय कहे हैं, तिनको सूत्रकार खण्डन करते हैं:—

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च॥ ७॥

अर्थ—१ अर्भकौकस्त्वात्, २ तद्व्यपदेशात्, ३ च, ४ न, ५ इति, ६ चेत्, ७ न, ८ निचाय्यत्वात्, ९ एवं, १० व्योमवत्, ११ च। इस सूत्रमें एकादश पद हैं।

शंका। 'अर्भक' कहिये अल्प है, 'ओकः' कहिये स्थान जिसका तिसका नाम अर्भकौक है। अर्थात् हृदयरूप अल्प स्थानवाला होनेसे जीव ही इस विद्यामें उपास्य है। तहां श्रुति 'एष म आत्मान्तर्हृदये'। अर्थ स्पष्ट है। और 'तद्व्यपदेशात्' कहिये अणीयस्त्वका कथन होनेसे भी जीव ही ग्राह्य है। तहां श्रुतिः-'व्रीहेर्वा यवाद्वा' इत्यादिक। इस पूर्वोक्त रीतिसे सूचीके अग्र भाग तुल्य परिमाणवाला जीव ही इस प्रकरणमें उपास्यरूप करके उपदिष्ट है सर्वगत परमात्मा नहीं।

समाधान। सिद्धान्ती कहता है कि-इस प्रकरणमें सर्वगत परमात्माका ही उपास्यरूप करके ग्रहण करना, क्योंकि-'निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च'। जैसे सर्वगत आकाश सूची आदिकोंकी अपेक्षा करके अल्प स्थानवाला तथा अणीय कहा जाता है। तैसे हृदयरूप अल्प स्थानमें दर्शन करनेके योग्य होनेसे सर्वगत ब्रह्म भी अल्प स्थानवाला तथा अणीय कहा जाता है। अतः इस पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्म ही उपास्यरूप करके उपदिष्ट है जीव नहीं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको भाष्यकार दिखाते हैं—परिच्छिन्न देशमें रहनेवाला जो जीव है, तिसमें ब्रह्मभावको अपेक्षा करके भी सर्वगतत्वका व्यवहार नहीं हो सकता है। क्योंकि हृदयादिरूप परिच्छेदके त्यागसे विना जीवमें ब्रह्मत्वका असम्भव है। और यदि परिच्छेदको त्याग करोगे तो ब्रह्मही उपास्य सिद्ध होगा। और जो वस्तु सर्वगत है तिस वस्तुमें, सर्व देशमें विद्यमान होनेसे 'परिच्छिन्न देशवाला है' ऐसा व्यवहार भी किसी कारणसे बन सकता है। जैसे सर्वेश्वर रामचन्द्र महाराज सम्पूर्ण वसुधाके अधिपति हुये भी 'अयोध्याके अधिपति थे' ऐसा व्यवहार होता है। तैसे हृदयादिरूप देशको अपेक्षा करके सर्वगत परमात्मा भी 'अर्भकौकः' 'अणीयान्' इत्यादि व्यवहारका विषय होता है।

शंका। सर्वगत हुवा भी परमेश्वर यहां किसकारणसे अर्भकौकः व अणीयान् कहा जाता है?

समाधान। जैसे जब शालग्राममें विष्णुको निश्चय करनेवाली बुद्धिवृत्ति 'शालग्रामो विष्णुः' ऐसी होती है। अर्थात् जब विष्णुविषयक तदाकार वृत्ति होती है। तब विष्णु भगवान् भक्तोंके उपर प्रसन्न होता है। तैसे ही सर्वगत परमात्मा भी हृदयमें उपास्यमान हुवा उपासकके उपर प्रसन्न होता है। अतः 'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' इत्यादिक श्रुतिमें "अणीयस्त्वादि गुणों करके हृदयमें परमेश्वर निचाय्य है अर्थात् उपास्य है" और निचाय्य होनेसे ही 'अर्भकौकः है' इत्यादि कहा जाता है। वस्तुतः नहीं।

शंका। जैसे भिन्न भिन्न स्थानवाले होनेसे शुकादिक पक्षियोंमें अनेकत्व, सावयवत्व, अनित्यत्वादिक दोष देखनेमें आते हैं। तैसे ब्रह्मका हृदयरूप जो आयतन (स्थान) कहा है सो प्रति शरीरमें भिन्न भिन्न है। जब भिन्न भिन्न आयतनवाला ब्रह्म हुवा तब ब्रह्ममें भी अनेकत्व, सावयवत्व, अनित्यत्वादिक दोषोंकी प्राप्ति होगी।

समाधान। यह शंका भी पूर्वोक्त आकाशके दृष्टान्त करके ही परिहृत जाननी। अर्थात् जैसे एक आकाशके घटकरकादिरूप अनेक आयतनके हुये भी सत्य भेदका अभाव होनेसे अनेकत्वादिकोंका प्रसङ्गरूप दोष नहीं होता है। तैसे परमात्मामें भी जानना। और जो वादीने शुकादिकोंका दृष्टान्त दिया है सो विषम है। क्योंकि शुकादिक सावयव व अनित्य हैं; ब्रह्म निरवयव व नित्य है इति ॥ ७ ॥

यदि ब्रह्मको हार्द मानोगे तो ब्रह्ममें अनिष्ट सुखदुःखादिक भोगकी प्राप्तिरूप दोष होवेगा। अतः "हार्द जीव ही उपास्य है ब्रह्म नहीं" इस प्रकारकी शंकाको दिखाते हुये समाधानको सूत्रकार दिखाते हैं:—

संभोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

अर्थ—१ संभोगप्राप्तिः, २ इति, ३ चेत्, ४ न, ५ वैशेष्यात्। इस सूत्रमें पांच पद हैं। 'ब्रह्मका हृदयस्थान माननेसे जीवकी तरह सुखीदुःखी ब्रह्म होगा'? यह आपत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि ब्रह्ममें—धर्माधर्मशून्यत्व शुद्धत्वादिक विशेष है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको शंका समाधान पूर्वक विस्तारसे दिखाते हैं:—

शंका। आकाशकी तरह ब्रह्मको सर्व प्राणियोंके साथ सम्बन्ध होनेसे, तथा चैतन्यरूप करके जीवके तुल्य होनेसे, ब्रह्ममें जीवकी तरह अनिष्ट सुखदुःखादिक भोगोंकी प्राप्ति होगी। अर्थात्—'ब्रह्म, भोक्तृ, हार्दत्वे सति चेतनत्वात्, जीववत्'। जैसे जीवरूप दृष्टान्तमें 'हार्दत्वे सति चेतनत्व' रूप हेतु है। और भोक्तृत्वरूप साध्य है। तैसे ब्रह्मरूप पक्षमें भी हार्दत्वे सति चेतनत्वरूप हेतु है। अतः भोक्तृत्वरूप साध्य भी मानना चाहिये। इस अनुमान करके ब्रह्ममें भोक्तृत्वकी सिद्धि हुई। यदि सिद्धान्ती कहे कि भोगके कारण जो धर्मा-

धर्मादिक हैं, तिन धर्मादिकों करके सम्बद्ध जीवमें ही दुःखादिक हो सकते हैं ब्रह्ममें नहीं। यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इत्यादिक श्रुतियोंमें परमात्मासे भिन्न संसारी जीवात्माके अभावको कहा है। अतः जीव व ब्रह्मको एक ही होनेसे परब्रह्ममें भी दुःखादिक होना चाहिये इति।

समाधान। यह पूर्वपक्षीका कहना असङ्गत है इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं:—'न वैशेष्यात्'। सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयके साथ सम्बन्ध होनेसे ब्रह्ममें अनिष्ट दुःखादिक भोगोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि शरीर तथा परमात्मामें विशेष है। अर्थात् विलक्षणता है। एक तो कर्ताभोक्ता धर्माधर्मवान् व सुखदुःखादिमान् है। और एक अपहतपाप्मत्वादिक गुणवाला इससे विपरीत है। अर्थात्—अकर्ता अभोक्ता तथा धर्माधर्म सुखदुःखादिकोंके अभाववाला है। अत इस विशेषतासे एक जीवको भोग होता है। और दूसरे परमात्माको भोग नहीं होता है। और यदि वादी वस्तुकी शक्तिको नहीं आश्रयण करके केवल सन्निधि मात्रसे कार्यके सम्बन्धको अङ्गीकार करेगा तो; अग्निके सन्निहित आकाशादिकोंमें भी दाहादिक कार्य होना चाहिये परन्तु होता तो नहीं।

किञ्च जैसे हमारेको वादीने दोष दिया कि—एक हृदयमें जीव तथा ब्रह्म रहता है, अतः जीवका भोग ब्रह्ममें होना चाहिये। तैसे जिन वादियोंके मतमें विभु तथा अनेक आत्मा हैं, तिनके मतमें भी एक देहमें अनेक आत्मावोंको विद्यमान होनेसे सर्व आत्मावोंमें सुखदुःखादिकोंका प्रसङ्गरूप दोष होवेगा। यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि—जिस आत्मा करके अर्जित जो कर्म है, तिस कर्मका भोग तिस आत्मामें ही होता है। अन्यमें नहीं। अतः पूर्वोक्त दोष नहीं होता। तो हमारे सिद्धान्तमें भी जीव करके अर्जित कर्मका भोग जीवमें ही होगा ब्रह्ममें नहीं होगा। अतः हमारे मतमें भी दोष नहीं अर्थात् शंका तथा परिहार दोनोंके मतमें तुल्य हैं। और वादीने जो प्रथम 'ब्रह्म, भोक्तृ, हार्दत्वे सति चेतनत्वात्, जीववत्'। इस अनुमान करके ब्रह्ममें भोक्तृत्व सिद्ध किया था सो भी असङ्गत है। क्योंकि यह अनुमान सोपाधिक होनेसे दुष्ट है। और जो अनुमान दुष्ट होता है तिस अनुमान करके साध्यकी सिद्धि नहीं होती। अब उपाधिको दिखाते हैं:—साध्यका व्यापक तथा साधनका अव्यापक जो धर्म है तिसका नाम उपाधि है। इस अनुमानमें 'धर्माधर्मवत्त्व' उपाधि है, दृष्टान्तरूप जीवमें भोक्तृत्व साध्य है और धर्माधर्मवत्त्व उपाधि है, अतः साध्यका व्यापक है। और ब्रह्मरूप पक्षमें हार्दत्वे सति चेतनत्वरूप हेतु है, परन्तु धर्माधर्मवत्त्व उपाधि नहीं है, अतः साधनका अव्यापक है इति।

और जो वादीने कहा था कि-ब्रह्मको एक होनेसे ब्रह्मसे भिन्न दूसरा आत्माका अभाव है, अतः शरीरके भोगसे ब्रह्ममें भोगका प्रसङ्ग होगा? **'अत्र वदामः—इदं तावद्देवानां प्रियः प्रष्टव्यः'** इति भाष्यम्। अर्थात् यहां हम कहते हैं कि—

देवतावोंका प्रिय जो पशुरूप वादी है सो पूछनेको योग्य है—तुमने ब्रह्मसे भिन्न दूसरे आत्माका अभावको किस प्रकार निश्चय किया है? यदि पूर्वपक्षी कहे कि—मैंने 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'नान्योतोऽस्ति विज्ञाता' इत्यादिक शास्त्रसे निश्चय किया है। तो सिद्धान्ती कहता है कि—शास्त्रको उलंघन नहीं करके ही शास्त्रका अर्थ जाननेको योग्य है। अर्धजरतीन्याय* करके नहीं। 'अर्धं मुखमात्रं जरत्या वृद्धायाः कामयते नाङ्गानीति' जैसे जिस वृद्धा स्त्रीके मुखसे भिन्न दूसरे अङ्ग जरजरीभूत हो गये हों; परन्तु मुख मात्र युवावस्थाके मुखके समान सुन्दर हो; तिस वृद्धा स्त्रीके मुख मात्रकी कामी पुरुष कामना करता है; इतर अङ्गोंकी नहीं। इसका नाम 'अर्धजरतीयन्याय' है। तैसे शास्त्रके एक बचनको स्वीकार करके, अपनी इच्छाके अनुसार शास्त्रके अर्थको सिद्ध करना, और दूसरे वचनके अनुसार सिद्ध अर्थको नहीं मानना, इस अर्धजरतीयन्यायके अनुसार अर्थको नहीं मान सकते हैं।

और 'तत्त्वमसि' 'अपहतपाप्मा' इत्यादिक शास्त्र जब अपहतपाप्मत्वादि विशेषणवाले ब्रह्मको शारीरका आत्मारूप करके उपदेश करता हुवा शारीरमें ही उपभोक्तृत्वको वारण करता है। तब किस हेतुसे शारीरके उपभोगसे ब्रह्म उपभोगवाला होगा? किन्तु नहीं होगा। और यदि शारीरका ब्रह्मके साथ एकत्व अनिश्चित है। तो मिथ्या ज्ञान निमित्त ही शारीरमें उपभोग कहना होगा। तथाच जैसे बालकों करके तलमलिनतादिक धर्मविशिष्टत्वेन विकल्प्यमान जो आकाश है सो परमार्थसे तलमलिनतादिक धर्मविशिष्ट नहीं हो सकता। तैसे ही तिस मिथ्या उपभोगके साथ भी परमार्थस्वरूप ब्रह्मका संस्पर्श नहीं हो सकता है। इस अर्थको सूत्रकार कहते हैं:—'न वैशेष्यात्' शारीर तथा ब्रह्मको एक हुये भी शारीरके उपभोग करके ब्रह्ममें उपभोगका प्रसङ्ग नहीं हो सकता है। क्योंकि मिथ्या ज्ञान तथा सम्यक् ज्ञानमें विलक्षणता है। अर्थात् आत्मामें मिथ्या ज्ञान करके कल्पित भोग है। और सम्यक् ज्ञान करके दृष्ट एकत्व है।

किञ्च मिथ्याज्ञान करके कल्पित जो उपभोग है, तिस उपभोगसे सम्यक् ज्ञान करके दृष्ट वस्तु संस्पर्शवाली नहीं हो सकती है। अतः उपभोगका गन्धमात्र भी ईश्वरमें कल्पना करनेको अशक्य है। इस पूर्वोक्त रीतिसे सत्यसंकल्पत्व मनोमयत्वादिक गुणविशिष्ट परमात्मा ही उपास्य है जीव नहीं यह सिद्ध हुवा इति ॥ ८ ॥

इति सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् समाप्तम्।

---

*टि० १—'नहि कुक्कुट्यादेः शरीरमर्धं पच्यतेऽर्धं प्रसवाय कल्पते'। अर्थात् कुक्कुटीका अर्ध शरीर पकाया जावे और अर्ध शरीर प्रसवके लिये समर्थ होवे ऐसा नहीं हो सकता। अथवा युवती अर्ध शरीर करके जरती (वृद्धा) होवे और अर्ध करके युवती होवे ऐसा नही हो सकता।

पूर्वपक्षी कहता है कि-पूर्वोक्त रीतिसे जब परमात्मामें भोक्तृत्वका अभाव हुवा तब अत्तृत्व (अदनकर्तृत्व) भी ब्रह्ममें नहीं बन सकता है। अतः 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च' इत्यादि श्रुतिमें अत्ता शब्द करके जीवका ही ग्रहण करना चाहिये ? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार कहते हैं:—

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ६ ॥

अर्थ—१ अत्ता, २ चराचरग्रहणात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। अत्ता इस शब्द करके परमात्माका ही ग्रहण करना जीवका नहीं, क्योंकि श्रुतिमें चराचरका ग्रहण किया है। अर्थात् स्थावरजङ्गमरूप चराचरका भक्षणकर्तृत्व परमेश्वरमें ही बन सकता है जीवमें नहीं इति।

अब भाष्यकार इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हुये तात्पर्यको दिखाते हैं:-कठवल्लीमें लिखा है-'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः'। यह वाक्य इस सूत्रका विषय है। अर्थ—जिस तमःप्रधान मायोपाधिक परमेश्वरका ब्राह्मण तथा क्षत्र करके उपलक्षित चराचरात्मक सम्पूर्ण जगत् 'ओदनः' कहिये भक्षण करनेके योग्य भात है। और जिसका सर्वको संहार करनेवाला मृत्युरूप 'उपसेचन' कहिये घृत दाल व शाक है। सो ईश्वर जिस शुद्ध स्वरूपमें स्थित है तिस शुद्ध स्वरूप आत्माको 'इत्था' कहिये जिस प्रकार मैं धर्मराज जानता हूं तिस प्रकार मेरेसे भिन्न दूसरा कौन जानता है अर्थात् कोई नहीं जानता है इति।

इस वचन करके धर्मराजने नचिकेताके प्रति आत्मज्ञानमें दुर्लभत्वको बोधन किया है। दूसरेको ज्ञान नहीं होता ऐसा नहीं। अथवा 'इत्था' कहिये ईश्वरका अधिष्ठानरूप शुद्ध ब्रह्मको कौन जान सकता है। अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि आदिकरूप उपायसे विना कोई भी नहीं जान सकता है। अर्थात् जो ब्रह्मको जानता है सो मेरा स्वरूप ही है मुझसे भिन्न कोई भी द्रष्टा है नहीं।

शंका। श्रुतिमें अत्ता पदका श्रवण न होनेसे यह सूत्र श्रुतिके अनुसार नहीं हो सकता है।

समाधान। 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च' इस श्रुतिमें ओदनके उपसेचन करके सूचित कोई अत्ता प्रतीत होता है। अतः यह सूत्र श्रुतिके अनुसार ही है। परन्तु यहां अत्ताके बोधक 'यस्य' शब्द करके विशेषका अनवधारण होनेसे संशय होता है कि-क्या अग्नि अत्ता है ? अथवा जीव अत्ता है ? अथवा परमात्मा अत्ता है ? क्योंकि इस ग्रन्थमें तीनोंके ही प्रश्नोंका उपन्यास देखनेमें आता है।

तहां 'स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि' इत्यादि। अर्थात्—हे सर्वलोकप्रसिद्ध मृत्यो ! आप स्वर्गकी प्राप्तिका साधनरूप जिस अग्निको जानते हैं तिस अग्निको हमारे प्रति उपदेश करें। यह नचिकेताका अग्निविषयक प्रश्न है। और इस प्रश्नका यमराजकृत उत्तरकी बोधक यह श्रुति है—'लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै। या इष्टका यावतीर्वा यथा वा' इत्यादिक। अर्थ—पृथिवी आदि लोकोंका 'आदि' कहिये प्रथम शरीरी विराट्स्वरूप जो अग्नि है तिसको

नचिकेताके प्रति यमराज कहते भये। किञ्च जिन ईटों करके कुण्ड बनाया जाता है, तिन ईटोंके स्वरूपको व परिमाणको तथा ईटोंकी संख्याको तथा जिस प्रकार अग्निका अनुष्ठान होता है तिस सर्व प्रकारको कहते भये इति।

और 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' इत्यादि। अर्थ—'मनुष्ये' कहिये प्राणियोंके 'प्रेते' कहिये मृत हुये जो यह 'विचिकित्सा' कहिये संशय होता है कि-कोई आस्तिक पुरुष कहता है-देहादिक संघातसे भिन्न यह आत्मा इस शरीरको त्यागकर देहान्तरको प्राप्त होता है। और कोई नास्तिक पुरुष कहता है कि-यह आत्मा देहादिक संघातसे व्यतिरिक्त है नहीं। अतः आप ब्रह्मनिष्ठ गुरु करके प्रतिबोधित हुवा जो मैं शिष्य हूँ सो मैं जिस प्रकारसे आत्मतत्त्वको जान सकुं तिस प्रकारसे उपदेश करें इति।

यह नचिकेताका जीवविषयक प्रश्न है।

और अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच भव्याच यत्तत्पश्यसि तद्वद॥ अर्थ—यागादिरूप धर्मसे जो वस्तु 'अन्यत्र' कहिये भिन्न है, और हिंसादिरूप अधर्मसे जो वस्तु भिन्न है, और 'अस्मात् कृताकृतात्' कहिये विद्वद्बुद्धिका विषय जो कार्यकारण तिससे जो वस्तु भिन्न है, और भूत, वर्तमान, भविष्यत् कालोंसे तथा तिन कालोंमें रहनेवाले पदार्थोंसे जो वस्तु भिन्नहै यदि ऐसे वस्तुको आप जानतें हैं तो तिस सर्व विलक्षण तत्त्व वस्तुको मेरे प्रति कथन करें इति।

यह नचिकेताका ब्रह्मविषयक प्रश्न है।

अब जीवविषयक तथा ब्रह्मविषयक प्रश्नोंके उत्तरको धर्मराज कहते हैं:—

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्। यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥ इत्यादि। अर्थ- हे नचिकेतः! अभी तुम्हारे प्रति गोपनीय सनातन तत्त्व ब्रह्मको कहता हूं। तथा जिस प्रकार देही आत्मा मरणको प्राप्त होकर देहान्तरको प्राप्त होता है, तिसको भी तू श्रवण कर। अर्थात् इस जन्ममें यह प्राणी जैसे विहित तथा निषिद्ध कर्मोंको करता है। तथा जैसी विहित तथा निषिद्ध ज्ञानरूप उपासनाको सम्पादन करता है। तिन कर्मों तथा उपासनावोंके अनुसार स्थावर वा जङ्गम योनियोंको प्राप्त होता है। और इन्द्रियादिकोंके उपराम हुये स्वप्न अवस्थामें अनेक स्त्रीपुत्रादिक प्रपञ्चको रचता हुवा जो यह स्वप्रकाश चिद्रूप पुरुष जाग्रत्को प्राप्त होता है सोई अर्थात् स्वप्नादिका द्रष्टारूप करके वर्णित यह पुरुष ही सर्वोपाधि करके रहित शुद्ध व्यापक ब्रह्मरूप है। तथा पूर्वोक्त ब्रह्म ही मोक्षरूप है। इस प्रकार श्रुति कहती है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे धर्मराजने नचिकेताके प्रति जीवविषयक तथा ब्रह्मविषयक प्रश्नोंका उत्तर कहा। इस पूर्वोक्त रीतिसे प्रश्न तथा प्रतिवचन करके 'अत्ता अग्नि है, अथवा जीव है वा ब्रह्म है' इस प्रकार यहां संशय है।

'यहां क्या प्राप्त हुवा' ऐसी जिज्ञासाके हुये—

अथ पूर्वपक्षः। अग्नि अत्ता है। क्योंकि 'अग्निरन्नादः' इस बृहदारण्यक श्रुति करके, तथा लोकप्रसिद्धि करके, अन्नको भक्षण करनेवाला अग्नि ही अत्ता है। और "अग्निप्रकरणको अतीत होनेसे अग्नि अत्ता नहीं हो सकता है" ऐसी यदि अरुचि होवे तो जीव अत्ता है। क्योंकि 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इस मन्त्रमें जीवको

भी कर्मफलका अत्ता कहा है। परन्तु परमात्मा अत्ता नहीं हो सकता है। क्योंकि 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति'। यह मन्त्र परमात्मामें अत्तृत्वको निषेध करता है।

अथ सिद्धान्तपक्षः। प्रसङ्गमें अत्ता शब्द करके परमात्मा ही ग्रहण करनेको योग्य है। क्योंकि 'चराचरग्रहणात्'। मृत्यु है उपसेचन जिसका ऐसा जो जङ्गमस्थावररूप प्रपञ्च है तिस प्रपञ्चकी भक्ष्यरूप करके प्रतीति होती है। और समग्ररूप करके प्रपञ्चका अत्ता परमात्मासे भिन्न दूसरा कोई नहीं बन सकता है। और परमात्मा तो सम्पूर्ण विकारोंको उपसंहार करता हुवा 'सबको भक्षण करता है' ऐसे व्यवहारका विषय बन सकता है।

शंका। श्रुतिमें चराचरका ग्रहण नहीं देखनेमें आता है, फिर सूत्रकारने किस प्रकार चराचरग्रहणको हेतुरूप करके कथन किया है।

समाधान। यहां श्रुतिमें ब्राह्मण तथा क्षत्रियमें वृत्ति जो ओदन शब्द है तिस ओदन शब्द करके, और मृत्युरूप उपसेचनके सन्निधानसे ओदनगत विनाश्यत्वरूप गुणका आश्रयण करके ब्रह्म तथा क्षत्र शब्दोपलक्षित यावत् जगत्का ग्रहण करना। इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं:--'नैष दोषः' इत्यादि। अर्थात् वादी करके उक्त जो दोष है सो नहीं बन सकता है। क्योंकि मृत्युरूप उपसेचन करके प्राणिसमूहकी ओदन रूपसे प्रतीति होती है। और श्रुति जो ब्रह्म तथा क्षत्रको ही कथन करती है सो ब्रह्मक्षत्रको प्रधान होनेसे प्रदर्शन मात्र है। अतः सूत्रमें जो चराचरका ग्रहण है सो समीचीन ही है। और जो वादीने कहा था कि—परमात्मामें अत्तृत्व नहीं बन सकता। क्योंकि 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' 'परमात्मा भोगोंको नहीं भोगता हुवा केवल प्रकाश ही करता है' यहां 'अनश्नन्' इस श्रुतिसे ईशमें भोक्तृत्वका निषेध प्रतीत होता है इति? यह भी वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि कर्मफलभोगका सन्निधान होनेसे यह वचन ईश्वरमें कर्मफलके भोगको निषेध करता है। सम्पूर्ण जगत्रूप विकारके संहारका निषेध नहीं करता है। क्योंकि सम्पूर्ण वेदान्तमें जगत्की सृष्टि, स्थिति, संहारका कारणत्व ब्रह्ममें ही प्रसिद्ध है। अतः यहां परमात्मा ही अत्ता होनेको योग्य है, यह सिद्ध हुवा। यहां पूर्वपक्षमें जीवकी उपासना फल है। और सिद्धान्तमें निर्विशेष ब्रह्मका ज्ञान फल है इति॥ ९॥

यहां परमात्मा ही अत्ता है इस अर्थमें प्रमाणान्तरको दिखाते हैं:--

प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

अर्थ—१ प्रकरणात्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। यहां परमात्मा ही अत्ता होनेको योग्य है, क्योंकि परमात्माका ही यह प्रकरण है इति।

अर्थात् 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इत्यादि। 'विपश्चित्' कहिये जो

नित्य चैतन्यरूप आत्मा है सो उत्पन्न नहीं होता है तथा मरता भी नहीं हैं। यहां इन आदि तथा अन्तके विकारोंका निषेध होनेसे, मध्यके विकारोंका निषेध भी जान लेना। तथाच यहां इस प्रकरण करके प्रकृत जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मका ही ब्रह्मक्षत्रअत्तृत्वेन ग्रहण करना योग्य है। क्योंकि अग्निमें तथा जीवमें चराचरका संहर्तृत्व नहीं बन सकता है। और 'क इत्था वेद यत्र सः' यह वचन भी परमात्मामें ही दुर्विज्ञानत्वरूप लिङ्गको बोधन करता है जीवमें नहीं, क्योंकि जीव तो लोकप्रसिद्ध है। अतः जीवमें दुर्विज्ञानत्व नहीं बन सकता है इति ॥ १० ॥

इति अत्त्रधिकरणम्।

अब 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः' यह जो अत्तृवाक्य है तिस वाक्यसे अनन्तर जो 'ऋतं पिबन्तौ' यह वाक्य है तिस वाक्यका भी ज्ञेय आत्मामें ही समन्वयको दिखाते हैं:—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

अर्थ — १ गुहां, २ प्रविष्टौ, ३ आत्मानौ, ४ हि, ५ तद्दर्शनात्। इस सूत्रमें पांच पद हैं। परम श्रेष्ठ हृदयाकाशरूप स्थानमें जो बुद्धिरूपी गुहा है, तिस गुहामें प्रवेश करके जीव तथा परमात्मा ही दोनों स्थित हैं। क्योंकि श्रुतिमें चैतन्यरूप करके समान स्वभाववाले जीव तथा परमात्माका ही कथन किया है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हुये तात्पर्यको भगवान् भाष्यकार दिखाते हैं—ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥ यह वाक्य इस अधिकरणसूत्रका विषय है। अर्थ —'सुकृतस्य' कहिये स्वयं इस जीव करके सम्यक् किया हुवा जो विहित तथा निषिद्ध कर्म है, तिस कर्मका 'ऋतं' कहिये अवश्य भोक्तव्य जो सुख-दुःखादिक फल है, तिस फलको 'पिबन्तौ' कहिये भोगनेवाले जो जीव तथा परमात्मा हैं, सो 'लोके' कहिये इस देहमें वर्तमान हैं। और जैसे 'दशभिः सह पुत्रैश्च भारं वहति गर्दभी' यहां पुत्रोंका भार वहनमें अन्वय नहीं होता है। तैसेही 'ऋतं पिबन्तौ' यहां भी कर्मफलका भोक्ता जो यह जीव है इसके साथ वर्तमान परमात्माका भी पानकर्तृत्वमें अन्वय नहीं होता है ऐसा जानना। पुनः जीव तथा परमात्मा कैसे हैं कि-बाह्याकाशकी अपेक्षासे उत्कृष्ट जो हृदयाकाश है, तिस हृदयाकाशरूप स्थानमें जो बुद्धिरूपी गुहा है तिसमें स्थित हैं। और जिनको "छाया तथा आतपवत् परस्पर भोक्तृत्व तथा अभोक्तृत्वरूप विरुद्ध धर्मोंकरके विलक्षण हैं" इस प्रकार ब्रह्मवित्पुरुष कहते हैं। तथा कर्मी पुरुष भी कहते हैं। तथा जिन्होंने तीन वार नाचिकेत नामक अग्निको सम्पादन किया है सो भी इस प्रकार कहते हैं इति।

इस श्रुतिमें 'बुद्धि तथा जीवका ग्रहण करना' अथवा 'जीव तथा परमात्माका ग्रहण करना' ऐसा संशय होता है। तहां बुद्धि तथा जीवका ग्रहण करोगे तो बुद्धि है प्रधान जिसमें ऐसा जो कार्यकारणका संघात है, तिससे विलक्षण जीव प्रतिपादनका विषय होगा। यहां जीवमें बुद्धिआदिकसे वैलक्षण्य प्रतिपादन करनेको

योग्य भी है। क्योंकि नचिकेताने भी जीवके स्वरूपको धर्मराजसे पूछा है—'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥' इति। इस मन्त्रका अर्थ समीपमें ही कह आये हैं। और यदि जीव तथा परमात्माका ग्रहण करोगे तो जीवसे विलक्षण परमात्मा प्रतिपादनका विषय होगा। यहां परमात्माका स्वरूप भी प्रतिपादन करनेको योग्य है। क्योंकि नचिकेताने भी धर्मराजसे पूछा है—अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥ इति। इस मन्त्रका भी अर्थ समीपमें ही कह आये हैं।

शंका। बुद्धि तथा परमात्मामें भोक्तृत्वका अभाव होनेसे पूर्वोक्त दोनों पक्ष नहीं बन सकते। अतः संशय भी नहीं बन सकता है। अत एव—'अत्राह आक्षेप्ता उभावप्येतौ पक्षौ न सम्भवतः' इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् यहां आक्षेप करनेवाला कहता है कि—'बुद्धि तथा जीवका ग्रहण करना' अथवा 'जीव तथा परमात्माका ग्रहण करना' यह जो पूर्व दो पक्ष कहे है सो दोनों पक्ष नहीं बन सकते हैं। क्योंकि प्रथम पक्षमें तो चेतन क्षेत्रज्ञमें ही भोक्तृत्व बन सकता है, अचेतन बुद्धिमें नहीं। और 'ऋतं पिबन्तौ' यह श्रुति द्विवचन करके दोनोंमें कर्मफलभोगको दिखाती है। 'सुकृतस्य लोके' (अदृष्टजन्य देहमें) इस लिङ्गसे 'ऋतपान' कर्मफलभोगका नाम है। अतः दूसरा 'जीव तथा परमात्माका ग्रहण' पक्ष भी नहीं बन सकता है क्योंकि 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' यह मन्त्र चेतनरूप परमात्मामें भी कर्मफलभोगको निषेध करता है इति।

समाधान। 'नैष दोषः' इत्यादि भाष्यम्। यहां संशयका अभावरूप दोष नहीं बन सकता है। क्योंकि प्रथम बुद्धि तथा जीवका ग्रहण पक्ष बन सकता है। जैसे 'एधांसि पचन्ति' यह प्रयोग देखनेमें आता है। यहां यद्यपि पाकके प्रति काष्ठोंमें करणत्व है कर्तृत्व नहीं, तथापि कर्तृत्वका उपचार होता है। तैसे 'ऋतं पिबन्तौ' यहां यद्यपि बुद्धिमें पानका करणत्व है, कर्तृत्व नहीं, तथापि कर्तृत्वका उपचार होनेसे बुद्धि तथा जीवमें यह प्रयोग बन सकता है। और दूसरा 'जीव तथा परमात्माका ग्रहण' पक्ष भी बन सकता है। क्योंकि जैसे 'छत्रिणो गच्छन्ति' यहां अजहत् लक्षणासे एक छत्री करके छत्ररहित अनेकमें छत्रित्वका उपचार देखनेमें आता है। तैसे कर्मफलको पान करनेवाले एक जीव करके 'द्वौ पिबन्तौ' यह प्रयोग भी बन सकता है। अर्थात् ईश्वरमें भी पानकर्तृत्वका उपचार बन सकता है। अथवा यहां जीव तथा परमात्मामें मुख्य स्वातन्त्र्यरूप कर्तृत्व भी बन सकता है। इस अर्थको भाष्यकर दिखाते हैः—'जीवस्तावत् पिबति, ईश्वरस्तु पाययति पाययन्नपि

पिबतीत्युच्यते' इत्यादि। जैसे पाचकसे भिन्न पाचयितामें पक्तृत्व देखनेमें आता है। तैसे जीव कर्मफलको पान करता है, तथा ईश्वर पान कराता है। और पान कराते हुये ईश्वरमें भी 'पान करता है' ऐसा व्यवहार बन सकता है। क्योंकि जैसे जीवमें पानानुकूल नियत पूर्वभाविकृतिमत्त्वरूप मुख्य कर्तृत्व है। तैसे पानकारयिता परमात्मामें भी पानानुकूल नियत पूर्वभाविकृतिमत्त्वरूप मुख्य कर्तृत्व है। और **'यः कारयति स करोत्येव'** 'जो करानेवाला है सो कर्ता है' यह न्याय भी लोकमें प्रसिद्ध है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे अध्यात्म प्रसङ्गमें अन्य कोई दो ऋतपान करनेवाले नहीं बन सकते हैं। किन्तु 'बुद्धि तथा जीव' और 'जीव तथा परमात्मा' इन दोनों पक्षोंमेंसे ही कोई एकपक्ष बन सकता है। अतः यहां इन दोनों पक्षोंमें कौन पक्ष ग्रहण करनेको योग्य है यह **संशय** है इति।

'यहां क्या प्राप्त हुवा' ऐसी जिज्ञासाके हुये--

अथ **पूर्वपक्षः**। 'पिबन्तौ' इस पद करके बुद्धि तथा जीवात्माका ही ग्रहण करना, क्योंकि श्रुतिमें 'गुहां प्रविष्टौ' यह विशेषण कहा है। यदि शरीररूप गुहाको ग्रहण करें, अथवा हृदयरूप गुहाको ग्रहण करें, उभय प्रकारसे भी 'बुद्धि तथा जीव गुहामें प्रविष्ट हैं' ऐसा व्यवहार उपपन्न हो सकता है। और जीव तथा परमात्मा गुहामें प्रविष्ट नहीं बन सकते हैं। क्योंकि अन्यथाउपपत्तिके सम्भव हुये सर्वगत परमात्माकी हृदयादिरूप विशेषदेशमें स्थितिकी कल्पना नहीं बन सकती। और 'सुकृतस्य लोके' यह वचन कर्मफलमें वर्तमानत्वरूप कर्मफल गोचरता को बोधन करता है। और परमात्मा तो कर्मफल का गोचर हो सकता नहीं। तहां श्रुतिः-**'नो कर्मणा वर्धते नो कनीयान्'** इत्यादिक। अर्थ स्पष्ट है। और 'छायातपौ' यह वचन भी छाया तथा आतपकी तरह विलक्षण होनेसे चेतन जीव तथा अचेतन बुद्धिके निर्देशमें ही उपपन्न हो सकता है। अतः पूर्वोक्त रीतिसे बुद्धि तथा जीवको ही 'ऋतं पिबन्तौ' इस श्रुतिमें ग्रहण करना चाहिये इति।

अथ **सिद्धान्तपक्षः**। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ' इस प्रसङ्गमें जीव तथा परमात्माका ही ग्रहण करना, क्योंकि यह दोनों समान स्वभाववाले चेतनस्वरूप हैं। और संख्याके श्रवण हुये लोकमें समान स्वभाववालोंकी ही प्रतीति देखनेमें आती है। जैसे **'अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्यः'**। अर्थ—इस गौका सम्बन्धी दूसरा ढूंढनेको योग्य है इति। यहां गौका सजातीय दूसरा गौ ही ढूंढनेको योग्य है। विजातीय अश्व, पुरुषादिक ढूंढनेको योग्य नहीं। क्योंकि एक गोत्व जातिवालेके सिद्ध हुये सजातीय दूसरे गौके ग्रहणमें व्यक्ति मात्रका ग्रहण होनेसे लाघव है। और विजातीयके ग्रहणमें जाति तथा व्यक्तिकी कल्पना होनेसे गौरव है। तैसे कर्मफलके पानरूप लिङ्ग करके जीवके निश्चित हुये 'इस जीवका सम्बन्धी दूसरा अन्वेषण करनेको योग्य है' ऐसा कहनेसे जीवके समान स्वभाववाले चेतनरूप परमात्माकी ही प्रतीति होती है। अतः यहां जीव तथा परमात्माका ही ग्रहण करना।

शंका। गुहाहितत्वके दर्शन होनेसे सर्वगत परमात्माकी प्रतीति नहीं हो सकती है ऐसा हम कह आये हैं।

समाधान। गुहाहितत्वके दर्शनसे ही परमात्माका निश्चय होता है। क्योंकि परमात्मामें ही अनेकवार गुहाहितत्वको श्रुति स्मृति प्रतिपादन करती हैं। तहां श्रुतिः—

'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणं' (कठ०)। अर्थ—'गुहाहितं' कहिये बुद्धिरूपी गुहामें जो स्थित है, 'गह्वरेष्ठं' कहिये अनेक अनर्थो करके विशिष्ट जो देह है तिस देहमें जो स्थित है, 'पुराणं' कहिये जो अनादि पुरुषरूप है, ऐसे आत्माको जानकर अधिकारी पुरुष हर्ष शोकको त्याग करता है इति।

और **'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्'** (तै०)। अर्थ—परम श्रेष्ठ हार्दाकाशमें स्थित जो बुद्धिरूपी गुहा है, तिस बुद्धिरूपी गुहामें परब्रह्मको जो पुरुष साक्षात्कार करता है, सो पुरुष सम्पूर्ण कामोंको प्राप्त होता है इति।

'आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्'। अर्थ—बुद्धिरूपी गुहामें प्रविष्ट आत्माका विचार कर इति। इत्यादिक वाक्योंमें "सर्वगत परमात्माके साक्षात्कारके लिये हृदयादिरूप देशविशेषका जो उपदेश किया है सो अविरुद्ध है" ऐसा हम कह ही आये हैं। अतः परमात्मामें गुहाहितत्व बन सकता है इति।

और 'छत्रित्वकी तरह, एक जीवमें वर्तमान जो सुकृतलोकवर्तित्व तथा कर्मफलभोक्तृत्व है; सो भी जीव तथा परमात्मा उभयमें *अविरुद्ध है। और 'छायातपौ' यह वचन भी अविरुद्ध है, क्योंकि छाया तथा आतपकी तरह संसारित्व तथा असंसारित्व परस्पर विलक्षण हैं। अर्थात् अविद्याकृत संसारित्व है। और परमार्थसे असंसारित्व है। अतः गुहामें प्रविष्ट 'जीवात्मा तथा परमात्माका ग्रहण करना' यह सिद्ध हुवा इति। यहां नचिकेताके प्रति धर्मराजने 'तत्' और 'त्वं' पदार्थका उपदेश किया ऐसा जानना। यहां पूर्वपक्षमें बुद्धिसे विलक्षण जीवका प्रतिपादन फल है, और सिद्धान्तमें 'जीवसे विलक्षण परमात्माका प्रतिपादन फल है इति॥ ११॥

और किस हेतुसे 'ऋतं पिबन्तौ' इस श्रुतिमें जीवात्मा तथा परमात्माका ग्रहण करते हो? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार कहते हैं:—

विशेषणाच्च॥ १२॥

अर्थ—१ विशेषणात्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। जीव तथा परमात्मामें गन्तृत्व

टि० * सुखदुःखात्मक कर्मफलविषयक अपरोक्षवृत्तिप्रकाशकत्वरूप भोक्तृत्व जैसे प्रतिबिम्बरूप जीवमें है, तैसे बिम्बस्वरूप ईश्वरमें भी प्रतिबिम्बद्वारा अविरुद्ध है।

तथा गन्तव्यत्वरूप विशेषण (लिङ्ग) को विद्यमान होनेसे भी यहां जीव तथा परमात्मा ही ग्राह्य हैं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—जैसे किसी ग्रामको प्राप्त होनेवाले रथीपुरुषकी गतिके साधन रथादिक हैं। तैसे संसारको अथवा मोक्षको प्राप्त होनेवाला जो कर्मफलका भोक्ता जीव है तिस जीवकी गतिके साधन शरीरादिक हैं। इस प्रकार रथरूपककल्पना करके श्रुति कहती है। तहां श्रुतिः—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ अर्थ—धर्मराज नचिकेताके प्रति कहते हैं कि—हे नचिकेतः! 'आत्मानं' कहिये त्वं पदके अर्थ जीवको, 'रथिनं' कहिये रथ करके संसार अथवा मोक्षको प्राप्त होनेवाला रथका स्वामी जानो, और शरीरको 'रथमेव तु' कहिये रथकी तरह गतिका साधन जानो, और निश्चयरूप बुद्धिको शरीररूप रथका नियन्ता सारथी जानो, और संकल्प विकल्परूप मनको रशनारूप प्रग्रह जानो इति।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ अर्थ—और चक्षु आदिक जो बाह्य इन्द्रिय हैं तिनको 'शरीररूप रथके आकर्षण करनेवाले अश्वरूप हैं' ऐसा शास्त्रवित् पुरुष कहते हैं। और इन्द्रियरूप अश्वोंके विचरनेके मार्ग स्थानीय रूपादिक विषयोंको कहते हैं। और देह, इन्द्रिय, मन करके युक्त आत्माको विवेकी पुरुष भोक्ता कहते हैं इति।

इन देहादिक विशषणोंको कहनेसे "सोपाधिक आत्मामें ही भोक्तृत्व है, निरूपाधिक आत्मामें नहीं" यह सिद्ध हुवा। अतः पूर्वोक्त रीतिसे 'ऋतं पिबन्तौ' इस मन्त्रसे अग्रिम 'आत्मानं' इत्यादिक मन्त्रोंसे रथिरथादिक रूपकको कल्पना करके "कर्मफलको पान करनेवाला और रथी संसार व मोक्षका गन्ता विज्ञानात्मा जीव है" इस अर्थको धर्मराज प्रतिपादन करते हैं। और—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

अर्थ—विवेकवती बुद्धिरूप सारथिवाला, तथा निगृहीत मनरूप रशनावाला जो पुरुष है सो पुरुष संसारमार्गके पारको प्राप्त होता है। सोई व्यापक विष्णुका स्वरूप परमपद व वैष्णवपद है इति। यह मन्त्र परमात्माको रथादि करके गन्तव्यरूपसे प्रतिपादन करता है।

और **'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥'**

अर्थ—हे नचिकेतः! तू जिस आत्माको जाननेकी इच्छा करता है-'तं देवं' कहिये तिस प्रकाशरूप आत्माको, आत्मामें चित्तका समाधानरूप अध्यात्मयोग अर्थात् निदिध्यासनके लाभसे, 'मत्वा' कहिये साक्षात्कार करके, 'धीरः' कहिये बुद्धिमान् पुरुष

हर्षशोकको त्याग करता है। और सो देव कैसा है कि-'दुर्दर्श' कहिये असंयत चित्तवाले पुरुषों करके देखनेको अशक्य है। 'गूढं' कहिये माया तत्कार्य करके आवृत्त है। 'अनुप्रविष्टं' कहिये प्रथम जगत्को उत्पन्न करके पश्चात् तिस जगत्में प्रविष्ट है। और 'गुहाहितं' बुद्धिमें उपलभ्यमान होनेसे बुद्धिरूपी गुहामें स्थित है। 'गह्वरेष्ठं' कहिये रागद्वेषादिक अनर्थों करके परिश्रमका जनक जो देहादिरूप कार्यकारणका संघात है तिसमें स्थित है। 'पुराणम्' कहिये सनातन है इति।

'ऋतं पिबन्तौ' इस मन्त्रसे पूर्व जो यह मन्त्र है सो भी जीव तथा परमात्मामें ही मन्तृत्वमन्तव्यभावको बोधन करता है। और परमात्माका ही यह प्रकरण भी है। और 'ब्रह्मविदो वदन्ति' यह जो वचन वक्ताविशेषको बोधन करता है; सो भी परमात्माके ग्रहण करनेसे ही समीचीन हो सकता है। और 'ऋतं पिबन्तौ' इस मन्त्रमें "जीवका अनुवाद करके जीवसे भिन्न जो तत् पदका ज्ञेय अर्थ परमात्मा है, सो वाक्यार्थज्ञानके लिये प्रतिपादन करनेको योग्य है" इस अर्थको भाष्यकार भगवान् भी दिखातेहैं:—**'तस्मादिह जीवपरमात्मानावुच्येयाताम्'**। अर्थ- अतः पूर्वोक्त कारणकलापसे 'ऋतं पिबन्तौ' इस श्रुतिमें जीवका तथा परमात्माका ही कथन करना योग्य है इति।

और कठकी यही रीति, 'द्वा सुपर्णा' तथा 'समाने वृक्षे' इन मुण्डकके मन्त्रोंमें भी जाननी। तहां श्रुति-**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥**

अर्थ—द्वासे लेकर चारपद छान्दस हैं, क्योंकि द्वौ, सुपर्णौ, सयुजौ, सखायौ, ऐसे द्विवचनके रूप व्याकरणकी रीतिसे होते हैं। और जैसे वृक्षका उच्छेद हो जाता है तैसे शरीरका भी उच्छेद हो जाता है अतः 'समानं' कहिये वृक्षके तुल्य इस शरीररूप वृक्षमें, जीव तथा परमात्मारूप दो पक्षी हैं। पुनः यह दोनों कैसे हैं कि 'सयुजौ' कहिये सर्वदा संयुक्त हैं। तथा 'सखायौ' कहिये चेतनरूप करके समान स्वभाववाले हैं। इन दोनोंके मध्यमें ईश्वरसे भिन्न जो जीव है सो कर्मफलका भोक्ता है। और जीवसे विलक्षण जो परमात्मा है सो कर्मके फल सुखदुःखादिकोंको नहीं भोगता है केवल प्रकाश ही करता है इति।

शंका। यह मन्त्र तो 'द्वा सुपर्णा' दो पक्षियोंको वर्णन करता है, जीव और ईश्वरको नहीं। अतः कठका न्याय मुण्डकमें नहीं लगता है?

समाधान। 'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह।' इस ब्रह्मविद्याके अधिकारमें लौकिक पक्षियोंका वर्णन नहीं बन सकता है। अतः सुपर्ण शब्दका अर्थ-इस शरीररूप वृक्षमें अल्पकाल स्थायी पक्षियोंके सदृश जीव और ईश्वर ही है। और 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इस स्वादु अदनरूप लिङ्गसे तिन दोनोंके मध्यमें एक जीव प्रतीत होता है। और एक 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इस अनशन व प्रकाशन लिङ्गसे परमात्मा प्रतीत होता है।

और अनन्तर पूर्वमुण्डकमें 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः' इस श्रुतिवाक्यसे धीर शब्दवाच्य साधनसम्पन्न जीवोंको द्रष्टारूपसे और अविनाशी आनन्दरूप तत्

पदार्थ ईश्वरको अर्थात् शुद्ध ज्ञेयस्वरूपको द्रष्टव्यरूपसे प्रतिपादन किया है। और अनन्तर उत्तर मन्त्रमें भी द्रष्टृद्रष्टव्यभाव करके जीव और ईशका ही निर्देश किया है।

शंका। जीव और ईशमें द्रष्टृद्रष्टव्यभावका निर्देशक अनन्तर उत्तर मन्त्र कौन है ?

समाधान। समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ अर्थ— 'समाने' कहिये वृक्षके तुल्य शरीररूपी वृक्षमें, कर्मफलका भोक्ता जो जीवरूप पुरुष है सो 'निमग्नः' कहिये 'देहरूप मैं हूँ' इस प्रकार देहके साथ तादात्म्य अभिमानमें डूबा हुवा, 'अनीशया शोचति' कहिये 'इष्टकी प्राप्तिमें तथा अनिष्टके परिहारमें मैं असमर्थ हूँ' इस प्रकार दीनभावरूप अनीशा करके सन्तप्त होता है। और 'मुह्यमानः' कहिये अविवेक करके नाना प्रकारकी चिन्ताको प्राप्त होता है। और जिस कालमें यह अधिकारी पुरुष योगियों करके सेवित, तथा सर्वका नियन्ता, तथा देहादिरूप उपाधि करके परिच्छिन्न जो जीव है तिससे विलक्षण; अर्थात् शोधित चिन्मात्ररूप परमात्माको प्रत्यग् आत्मारूप करके जानता है। तिस कालमें परमात्माकी स्वरूप भूत महिमाको प्राप्त होता है। अतः जन्ममरणादिरूप संसारशोक करके रहित होता है। अर्थात् कृतकृत्य होता है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'द्वा सुपर्णा' इत्यादिक मन्त्रोंको जीव तथा ईश्वरपरत्व वर्णन किया है।

अब कोई ऐसा कहता है कि—'द्वा सुपर्णा' इत्यादिक जो मन्त्र हैं सो 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ' इस अधिकरणसूत्रके सिद्धान्तको नहीं कहते हैं। अर्थात् जीव तथा ईश्वरको नहीं कहते हैं। क्योंकि पैङ्गिरहस्यब्राह्मणमें बुद्धिसे विलक्षण त्वं पदका लक्ष्य कूटस्थपरत्व करके इन मन्त्रोंका व्याख्यान किया है।

तिस व्याख्यानको दिखाते हैं:—'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति' इस मन्त्र करके स्वादु अदनका कर्तृभोक्तृ जो सत्त्व है तिसका ग्रहण करना। और 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इस मन्त्र करके कर्मफलको जो नहीं भोगता है। और जो सत्त्वसे भिन्न है, केवल देखनेवाला है, तिस क्षेत्रज्ञका ग्रहण करना इति।

यदि सत्त्व शब्द करके जीवका ग्रहण करें तथा क्षेत्रज्ञ शब्द करके परमात्माका ग्रहण करें तो 'गुहां प्रविष्टौ' इस अधिकरणके अनुकूल 'द्वा सुपर्णा' इत्यादिक मन्त्र हो सकते हैं। परन्तु ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सत्त्व शब्द अन्तःकरणमें तथा क्षेत्रज्ञ शब्द शारीर जीवमें प्रसिद्ध है। और पैङ्गिरहस्यब्राह्मणमें भी इसी प्रकार कहा है। तहां ब्राह्मण—

'तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यत्यथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा सः क्षेत्रज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ।' अर्थ—सो यह सत्त्व है कहिये अन्तःकरण है जिस अन्तःकरण करके स्वप्न देखता है, और जो यह जीव उपद्रष्टा कहिये देखनेवाला है सो क्षेत्रज्ञ है; अर्थात् दर्शनरूप क्रियाके प्रति अन्तःकरण तो करण है तथा क्षेत्रज्ञ कर्ता है इति।

शंका। यदि सत्त्व शब्द करके बुद्धिका ग्रहण करोगे तथा क्षेत्रज्ञ शब्द करके जीवका ग्रहण करोगे तो गुहाअधिकरणके पूर्वपक्षका अर्थ सिद्ध होगा।

समाधान। 'द्वा सुपर्णा' इत्यादिक जो वाक्य हैं सो 'गुहां प्रविष्टौ' इस अधिकरणके पूर्वपक्षके अर्थको भी नहीं कहते हैं क्योंकि ये वाक्य बुद्धिसे भिन्न जो कर्तृत्वभोक्तृत्वादिक धर्मों करके विशिष्ट जीव है, तिस जीवको प्रतिपादन नहीं करते हैं। किन्तु सर्व संसारधर्मों करके रहित चैतन्य ब्रह्मस्वरूप शोधित त्वं पदका लक्ष्यार्थ कूटस्थको प्रतिपादन करते हैं। और 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीतीति' 'अनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञः' 'तत्त्वमसि' 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्यादिक श्रुति स्मृति करके भी पूर्वोक्त अर्थ ही युक्त है। और 'द्वा सुपर्णा' इस ऋचाका उक्त व्याख्यान करके जीवमें ब्रह्मत्वको सिद्ध हुये ही 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत्' यह ब्रह्मविद्याके उपसंहारका दर्शन भी बन सकता है। और 'बुद्धिसे जीव भिन्न है' ऐसे विवेक मात्र करके विद्याका उपसंहार अयुक्त है। क्योंकि भेदज्ञान भ्रान्तिरूप है, तथा निष्फल है। अतः सत्त्व तथा क्षेत्रज्ञ शब्द करके बुद्धि तथा जीवका ग्रहण नहीं करना, किन्तु बुद्धि तथा कूटस्थको ग्रहण करना। तहां श्रुतिः—

'न ह वा एवंविदि किञ्चन रज आध्वंसते' इत्यादि। अर्थ— ब्रह्मरूप कूटस्थके साक्षात्कारवाले पुरुषमें अविद्यारूप जो रज है सो किञ्चित् मात्र भी सम्बन्धको नहीं कर सकता है, क्योंकि ज्ञानरूप अग्नि करके स्वयं अविद्या नष्ट हो चुकी है इति।

शंका। जब 'द्वा सुपर्णा' यह वाक्य जीवमें ब्रह्मत्वको कहता है तब इस पक्षमें 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' यह वचन अचेतन बुद्धिमें कर्मफलका भोक्तृत्वको किस प्रकार कहेगा?

समाधान। 'अचेतन बुद्धिमें भोक्तृत्वको हम कहें' ऐसा विचार करके 'तयोरन्यः' यह श्रुति प्रवृत्त नहीं हुई है, किन्तु 'चेतनरूप क्षेत्रज्ञमें अभोक्तृत्व तथा ब्रह्मस्वभावताको हम कहें' ऐसा विचार करके यह श्रुति प्रवृत्त हुई है। अतः जीवमें ब्रह्मत्व बोधके लिये सुखःदुखादिरूप विक्रियावाली बुद्धिरूप उपाधिमें ही भोक्तृत्वको आरोप करती है।

शंका। यदि वास्तवसे जीवमें अभोक्तृत्व है तो जीवमें जो भोक्तृत्वकी प्रतीति होती है सो किस प्रकार होगी?

समाधान। जीवमें जो कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वादिक प्रतीत होते हैं, सो बुद्धि तथा क्षेत्रज्ञके परस्पर स्वभावका अविवेक करके कल्पित हैं। अतः परमार्थसे दोनोंमें नहीं बन सकते हैं। क्योंकि सत्त्वरूप बुद्धि अचेतन है तथा क्षेत्रज्ञरूप कूटस्थ अविक्रिय है।

शंका। यद्यपि निर्विकार कूटस्थमें कर्तृत्वभोक्तृत्व नहीं बन सकता है। तथापि बुद्धिसत्त्वमें कर्तृत्वभोक्तृत्व बन सकता है।

समाधान। जैसे रज्जुका अविद्यासे प्रतीत सर्प भ्रममात्र है।

तैसे ही कूटस्थकी अविद्यासे प्रतीत बुद्ध्यादि जगत् भ्रममात्र है। वास्तवमें बुद्ध्यादिक पदार्थ हैं नहीं। अतः बुद्धिसत्त्वमें कर्तृत्वभोक्तृत्व सुतरां नहीं बन सकता है।

इस अर्थमें श्रुतिको भी दिखाते हैं—'यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत् पश्येत्' इत्यादि। अर्थ—जिस अविद्याकालमें आभासरूप जगत् नानाकी तरह प्रतीत होता है, तिस अविद्याकालमें द्रष्टा दृश्यसे भिन्न होकर चक्षुरादिक करणों करके अन्यको देखता है। तथा श्रोत्र करके श्रवण करता है इत्यादि इति। यह श्रुति स्वप्न दृष्ट हस्ति आदिक व्यवहारकी तरह आविद्यक कर्तृत्वभोक्तृत्व द्रष्टृत्वादिक व्यवहारको दिखाती है।

और 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि। अर्थ—जिस ब्रह्मविद्याकालमें इस विद्वान्का सम्पूर्ण जगत् आत्मास्वरूप ही हो गया, तिस ब्रह्मविद्याकालमें कौन कर्ता किस करण करके किस विषयको देखे इति। इत्यादि श्रुति विद्वान्में कर्तृत्वादिक व्यवहारको निषेध करती है इति।

इस पूर्वोक्त पैङ्गिरहस्यब्राह्मणके व्याख्यानकी रीतिसे 'द्वा सुपर्णा' इत्यादिक मुण्डकके वाक्य 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्' इस अधिकरणसूत्रके विषय नहीं हो सकते; किन्तु 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यादि कठ वाक्य ही विषय हैं यह सिद्ध हुवा इति* ॥ १२ ॥

इति गुहाप्रविष्टाधिकरणम् ॥

जैसे 'ऋतं पिबन्तौ' इस मन्त्रमें प्रथम श्रुत जो द्विवचनान्त पद है, तिस करके चेतनत्वरूप समान स्वभाववाला जीव तथा परमात्माका ग्रहण किया है। और इसके अनुसार ही अन्तमें श्रुत गुहाप्रवेशादिकोंका समन्वय किया है। अर्थात् बुद्धिरूप गुहामें भी जीव तथा परमात्मा ही स्थित हैं यह सिद्धान्त किया है। तैसे ही 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस मन्त्रमें भी प्रथम श्रुत जो अक्षिमें स्थित चक्षु इन्द्रियजन्य ज्ञानका विषय पुरुष है, तिस करके छायात्मारूप प्रतिबिम्बका ही ग्रहण करना। और इसके अनुसार ही अन्तमें श्रुत अमृतत्वादिक धर्मोंकी उपासनाके लिये प्रतिबिम्बमें कल्पना करनी चाहिये? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार कहते हैं:—

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

अर्थ—१ अन्तरः, २ उपपत्तेः। इस सूत्रमें दो पद हैं। अक्षिके अन्तर उपदिश्यमान जो पुरुष है सो परमात्मा ही है। छायात्मारूप प्रतिबिम्ब नहीं। क्योंकि यहां आत्मत्व अमृतत्वादिक जो उपदिश्यमान धर्म हैं, तिन सर्वकी परमेश्वरमें ही उपपत्ति बन सकती है प्रतिबिम्बमें नहीं इति।

---

* वस्तुतः 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इस वाक्यमें श्रुत जो स्वादु अदनका कर्तृत्व हैं सो केवल बुद्धिसत्त्वमें नहीं बन सकता है। क्योंकि बुद्धिसत्त्व भोगमें करण है, कर्तृ नहीं। अत इस पैङ्गिरहस्यव्याख्यानमें अरुचि होनेसे भाष्यकारने 'अपर आह' यह कहा।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं:—छान्दोग्यके चतुर्थाध्यायमें जो उपकोसलविद्याका प्रसङ्ग है तिसमें लिखा है कि—सत्यकाम नामक जाबाल ऋषिके आश्रममें अनेक ब्रह्मचारियोंके साथ कमल ऋषिका पुत्र उपकोसल नाम करके एक ब्रह्मचारी वेदाध्ययन करता था। और उसने श्रद्धापूर्वक गुरुके गृहमें अग्निकी द्वादश वर्ष पर्यन्त सेवा करी। परन्तु गुरुने एक उपकोसलसे विना दूसरे सम्पूर्ण ब्रह्मचारीयोंको क्रमशः वेदाध्ययन कराके समावर्तनको करा दिया। बाद सर्व स्नातक ब्रह्मचारी अपने अपने गृहको चले गये। विद्याहीन एक उपकोसल ही वहां पर रह गया। पश्चात् जाबाल ऋषिकी पत्नीने उपकोसलके अध्ययन व समावर्तनके लिये जाबाल ऋषिसे अनुरोध किया। परन्तु पत्नीके वचनको नहीं मानकर ऋषि देशान्तरको चले गये। पीछे उपकोसलने अनशन व्रत कर लिया। अग्नियोंकी सेवा करता रहा। तब आचार्यजायाने ब्रह्मचारीसे भोजन करनेके लिये अनुरोध किया, परन्तु उपकोसलने अन्न खानेसे इन्कार कर दिया, और कहा कि—अनेक संसारी वासनावोंसे मैं भरा हुवा हूं, जबतक मूलसहित वासनावोंकी उच्छेदक विद्या नहीं मिलेगी तबतक अन्न नहीं खाउंगा। तदनन्तर इस उपकोसलके निश्चयसे प्रसन्न होकर अत्यन्त श्रद्धालु गुरुभक्त तथा अपने परम सेवक उपकोसलके प्रति गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन, आहवनीय, ये तीनों अग्नि अपनी २ विद्याका तथा आत्मविद्या (प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति) का उपदेश करते भये। अन्तमें अग्नियोंने कहा कि—"हे सोम्य! यह हमने तुमको अग्निविद्याका व आत्मविद्याका उपदेश किया है। और इस विद्यासे ब्रह्मकी प्राप्ति होगी। और ब्रह्म प्राप्तिके लिये केवल मार्गको तेरा आचार्य उपदेश करेगा" ऐसा कहकर तीनों अग्नि अन्तर्धान हो गये।

और जब जाबाल ऋषि प्रवाससे आकर उपकोसलको देखा तब देखकर कहा कि—'हे सोम्य! तुम्हारा मुख ब्रह्मवित्की तरह प्रसन्न प्रतीत होता है, तुम्हारेको किसने आत्मविद्याका उपदेश किया है?' उपकोसल निषेध करते हुयेकी तरह कहता भया कि—हे भगवन्! आपके अनुग्रह विना मुझे कौन उपदेश करेगा। अर्थात् आचार्यकी कृपासे ही देवता भी उपदेश करते हैं। ऐसा कहकर अग्नियोंको निर्देश करता हुवा कहता भया—'हे भगवन्! प्रथम ये अग्नि और प्रकारके थे अब और प्रकार (वेपमान) के हो रहे हैं। आचार्य—हे सोम्य! इन्होंने तुझे क्या उपदेश किया है? उपकोसल—'इदमिति'। अर्थात् पृथिवी, अग्नि, अन्न, आदित्यको गार्हपत्यने उपदेश किया है इत्यादि। आचार्य—हे सोम्य! अग्नियोंने तुझे लोकोंका ही यह उपदेश किया है। अब मैं तुझको उपदेश करुंगा:—हे सोम्य! जैसे पुष्करपलाशको जल स्पर्श नहीं करता है, तैसे ही जिस ब्रह्मको जाननेसे इस पुरुषको पापकर्म स्पर्श नहीं करता है तिस स्थानगुणविशिष्ट ब्रह्मको मैं तुम्हारे प्रति कहता हूं:—

'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्र-

ह्येति तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति'। यह वाक्य इस अधिकरणसूत्रका विषय है।

अर्थ—अग्नियों करके उक्त जो सुखाकाशरूप परमात्मा है सो यह ब्रह्म स्वरूप पुरुष ही अक्षिमें उपासकों करके देखनेमें आता है। और यह पुरुष ही सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मा है। और यह पुरुष कैसा है कि-अमृतरूप है अर्थात् अविनाशी है, और अभयरूप है, तथा बृहत्तम होनेसे ब्रह्मरूप है। और जैसे चक्षुमें डाला हुवा जो घृत है अथवा उदक है सो चक्षुके पक्ष्म (पलक में ही आजाता है चक्षुके साथ सम्बद्ध नहीं होता है; तैसे पापकर्म भी ऐसे जाननेवाले पुरुषके साथ सम्बद्ध नहीं हो सकते हैं इति।

अब दर्शनमें लौकिकत्व तथा शास्त्रीयत्व करके संशयको दिखाते हैं—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' यहां पुरुष शब्द करके, क्या किसी एक पुरुषके समीपमें सन्मुख स्थित होनेसे दूसरे पुरुषके अक्षिमें स्थित जो पुरुषकी छायारूप प्रतिबिम्ब दीखता है तिसका ग्रहण करना, अथवा जीवका, अथवा इन्द्रियोंका अधिष्ठाता आदित्य देवताका, अथवा ईश्वरका ग्रहण करना, ऐसा संशय होता है।

यहां 'क्या प्राप्त हुवा' ऐसी जिज्ञासाके हुये—

अथ पूर्वपक्षः। यहां पुरुष शब्द करके छायारूप प्रतिबिम्बका ही ग्रहण करना, क्योंकि छायारूप प्रतिबिम्बमें दृश्यत्व प्रसिद्ध है। और 'दृश्यते' यह श्रुति भी प्रसिद्धकी तरह उपदेश करती है। और छायात्मामें, कतिपय क्षण पर्यन्त स्थित होनेसे अमृतत्व है; तथा अचेतन होनेसे अभयत्व है; तथा पुरुषाकार होनेसे पुरुषत्व है; तथा नेत्रके कनीनिकास्थानमें स्थित होनेसे आत्मत्व है; तथा च छायात्मामें पूर्वोक्त अमृतत्वादिक धर्मोंका योग होनेसे ब्रह्मत्व है। इस पूर्वोक्त रीतिसे अक्षिस्थानमें छायात्मा ही उपास्य है इति।

अब सम्भावनामात्र करके पूर्वपक्षी कहता है कि—अथवा यहां पुरुष शब्द करके जीवात्माका भी ग्रहण हो सकता है। क्योंकि जीवात्मा चक्षु करके रूपोंको देखता हुवा चक्षुके सन्निहित है। और इस पक्षमें श्रुतिस्थ आत्मशब्द भी अनुकूल है इति। अथवा इस पुरुष शब्द करके चक्षुका अनुग्राहक आदित्यरूप पुरुषका भी ग्रहण बन सकता है। क्योंकि 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः।' अर्थ-रश्मियोंद्वारा यह आदित्य पुरुष चक्षुमें स्थित है इति। और देवतात्मामें कथंचित् अमृतत्वादिक धर्म भी बन सकते हैं। परन्तु इस पुरुष शब्द करके सर्वगत ईश्वरका ग्रहण नहीं बन सकता, क्योंकि श्रुतिमें अक्षिरूप स्थानविशेषका निर्देश किया है इति।

अथ सिद्धान्तपक्षः। इस श्रुतिमें अक्षिके अभ्यन्तर पुरुषरूप परमेश्वरका ही उपदेश किया है, क्योंकि आत्मत्वादिक जो धर्म श्रुतिमें कहे हैं सो मुख्य वृत्ति करके परमेश्वरमें ही बन सकते हैं छायादिकोंमें नहीं। 'स आत्मा तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुति मुख्य वृत्ति करके परमेश्वरमें ही आत्मत्वको बोधन करती हैं। और परमेश्वरमें ही अमृतत्व अभयत्वादिक धर्म रहते हैं, इस प्रकार श्रुतिमें अनेकवार

श्रवण होता है। और अक्षिस्थान परमेश्वरके रहने योग्य भी है, क्योंकि अपहत पाप्मत्वादिके श्रवणसे जैसे परमात्मा सर्व दोषों करके अलिप्त है; तैसे अक्षिस्थान-को भी सर्व लेप करके रहित उपदेश किया है। तहां श्रुतिः—'तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति'। इसका अर्थ समीपमें ही कह आये हैं।

और अक्षिमें स्थित जो पुरुष है सो परमात्मारूप है, इस अर्थमें श्रुतिको दिखाते हैं—'एतं संयद्वाम इत्याचक्षते एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति' इत्यादि। अर्थ—इस अक्षिस्थ पुरुषको ब्रह्मवित् पुरुष 'संयद्वाम' कहते हैं, क्योंकि इस पुरुष-को आश्रयण करके ही कर्मोंके फल उत्पन्न होते हैं अर्थात् यह पुरुष कर्मफलका हेतु है इति। और इस पुरुषको 'वामनी' कहते हैं, क्योंकि यह पुरुष ही सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंको प्राणियोंको देता है। और इस अक्षिस्थ पुरुषको 'भामनी' भी कहते हैं। क्योंकि 'भामानि' कहिये 'भानानि' अर्थात् सर्व लोकोंको ज्ञानदाता यही है। तथा सर्व लोकोंमें आदित्यादिक रूप करके देदीप्यमान भी यही है। अतः पूर्वोक्त संयद्वाम-त्वादिक गुणोंकी परमेश्वरमें ही उपपत्ति होनेसे परमेश्वर ही अक्षिमें उपास्य है। छायादिक नहीं यह सिद्ध हुवा। और छायादिकोंमें पूर्वोक्त अमृतत्वादिक गुणोंका निराकरण सत्तरहवां सूत्रमें करेंगे इति ॥ १३ ॥

शंका। आकाशकी तरह सर्वगत ब्रह्मका अक्षिस्थान किस प्रकार बन सकता है? इस आक्षेपके हुये सूत्रकार **समाधान** कहते हैं:—

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

अर्थ १ स्थानादिव्यपदेशात्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। ब्रह्मके स्थानका और नाम रूपका उपदेश ध्यानके लिये अन्य श्रुतियोंमें भी किया है, अतः 'य एषोऽक्षिणि' इस श्रुतिमें स्थानकी उक्ति विरुद्ध नहीं है। अतः ब्रह्मका अक्षिस्थान बन सकता है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—यदि ब्रह्मका एक चक्षुस्थान ही श्रुतिमें निर्दिष्ट होता तो अक्षिस्थानकी अनवक्लृप्ति- अक्लृप्त कल्पना अर्थात् असिद्धि होवे। परन्तु श्रुतिमें ब्रह्मके अन्य भी पृथिवी आदिक अनेक स्थान देखनेमें आते हैं। तहां श्रुतिः—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि। और इन पृथिवी आदिक स्थानोंके मध्यमें चक्षुस्थानको भी कहा है- 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इत्यादि। और ब्रह्मका केवल एक स्थानको ही श्रुति अनुचित नहीं कहती, किन्तु नामरूप करके रहित ब्रह्मका नाम रूपादिको भी अनुचित कहती है। यह इस सूत्रगत 'आदि' शब्दका अर्थ है। तहां श्रुति—'तस्योदिति नाम'। सर्व पापों करके रहित होनेसे, तिस परमात्माका नाम 'उत्' है। इस करके नामको बोधन किया। तथा—'हिरण्यश्मश्रुः' सुवर्णके सदृश जिस ब्रह्मकी 'श्मश्रु' कहिये

दाढ़ी मूछ हैं', इस करके रूपको बोधन किया। इत्यादि। अर्थात् यद्यपि ब्रह्म निर्गुण भी है। तथापि नाम तथा रूपगत गुणों करके सगुण ब्रह्मकी उपासनाके लिये तहां २ अनेक श्रुतियोंमें ब्रह्मका उपदेश है। यह भी पूर्व कह ही आये हैं। और जैसे उपासनाके लिये विष्णुका स्थान शालग्राम कहा है, तैसे ही "यद्यपि ब्रह्म सर्वगत है; तथापि परमात्माकी उपलब्धिके लिये अक्षि हृदयादि स्थानविशेषका निर्देश जो किया है सो अविरुद्ध है" इस अर्थको प्रथम भी हम कह आये हैं इति ॥ १४ ॥

प्रकरणसे भी यहां ब्रह्म ही ग्रहण करनेको योग्य है, प्रतिबिम्ब व जीव व देवता नहीं। इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं:—

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

अर्थ—१ सुखविशिष्टाभिधानात्, २ एव, ३ च। इस सूत्रमें तीन पद हैं। प्रसङ्गमें प्राप्त जो सुखगुणविशिष्ट ब्रह्म है तिस ब्रह्मका ही 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस वाक्य करके अभिधान होनेसे अर्थात् कथन होनेसे, अक्षिके अन्तर स्थित परमात्मा ही है। यद्यपि सुख ब्रह्मरूप है ब्रह्मका सुख गुण (विशेषण) नहीं, तथापि यहां ध्यानके लिये भेदकी कल्पना करके सुखको ब्रह्मका गुण कहा है। अर्थात् सुखरूप गुणविशिष्ट ब्रह्म ध्यान करने को योग्य है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:— **'अपि च नैवात्र विवदितव्यम्'** इत्यादि भाष्यम्। यहां ऐसा विवाद नहीं करना कि—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' यह वाक्य ब्रह्मरूप पुरुषको प्रतिपादन करता है या नहीं। क्योंकि 'कं ब्रह्म' इस श्रुतिमें सुखगुणविशिष्ट ब्रह्मका अभिधान किया है। अतः पुरुषमें ब्रह्मत्व सिद्ध हुवा। अर्थात् इस विद्याके उपक्रमवाक्यमें जो सुखविशिष्ट ब्रह्म प्रकृत है 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इति, सोई ब्रह्म 'य एषोऽक्षिणि' इस वाक्यमें उपदिष्ट है, क्योंकि प्रकृत वाचक 'यः' शब्द करके प्रसङ्गमें प्राप्त जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मका ही ग्रहण करना उचित है, अन्यका नहीं।

शंका। 'दृश्यते' इस दृश्यत्व लिङ्गसे उपस्थित जो अक्षिमें स्थित पुरुष है सो छायात्मा ही है। छायात्मा ही 'यः' इस शब्दका अर्थ है ब्रह्म नहीं, क्योंकि प्रकरणसे लिङ्ग बलवान् है?

समाधान। उपकोसलके अनशनव्रतके निश्चयसे प्रसन्न होकर गार्हपत्यादिक अग्नियोंने दया करके उपकोसलके प्रति 'प्राणो ब्रह्म' इत्यादिक मन्त्रोंसे आत्मविद्याका तथा—पृथिवी अग्नि अन्न इत्यादि स्वविद्याका ही उपदेश किया है छायात्माका नहीं। क्योंकि उपदेश करके आगे अन्तमें यह कहा है—हे उपकोसल! **'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता'** अर्थात् इस उपासनारूप आत्मविद्याका जो हिरण्यगर्भ लोककी प्राप्तिरूप फल है, तिसके लिये आचार्य तुम्हारे प्रति केवल अर्चिरादि मार्गरूप गतिको कहेंगे। ऐसी प्रतिज्ञा करके तीनों अग्नि उपराम हो गये।

पश्चात् आचार्य देशान्तरसे आकर 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्यादिक उपदेश करके, आगे अर्चिरादिक गतिको कहते भये। यहां ऐसा जानना चाहिये कि-अग्नियों करके उक्त जो आत्मविद्यावाक्य है तिस वाक्यकी आचार्य करके उक्त गतिवाक्यके साथ एकवाक्यता कहनी चाहिये। सो एकवाक्यता 'य एषोऽक्षिणि' इस मन्त्रमें पुरुष शब्द करके अक्षिमें स्थित प्रकृत परमात्माको ग्रहण करनेसे ही बन सकती है। अत एकवाक्यता निर्वाहक जो यह प्रकरण है, सो वाक्यभेदका जनक दृश्यत्वरूप लिङ्गसे प्रबल है। क्योंकि एकवाक्यताके सम्भव हुये वाक्यभेदका स्वीकार अयुक्त है। अतः प्रकरणप्रतिपाद्य सुखगुणविशिष्ट परमात्माका ही 'य एषः' इस मन्त्रमें ग्रहण करना इति।

शंका। उपक्रमवाक्यमें अग्नियोंने सुखादिविशिष्ट ब्रह्मको बोधन किया है इस अर्थको तुम किस प्रकार जानते हो?

समाधान। 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति'। अर्थ—हे उपकोसल! प्राण ब्रह्मरूप है, तथा कं ब्रह्मरूप है, तथा खं ब्रह्मरूप है इति। इस अग्नियोंके वचनको श्रवण करके उपकोसल कहता भया—हे भगवन्! प्राण नाम सूत्रात्माका है सो जगत्का जीवन है और बृहत् होनेसे ब्रह्मरूप है। इस अर्थको मैं जानता हूं। परन्तु 'कं' नाम विषयसुखका है, और 'खं' नाम आकाशका है, इन दोनोंको ब्रह्मरूप करके जाननेको मैं असमर्थ हूं। क्योंकि विषयइन्द्रियजन्य अनित्य सुख ब्रह्मरूप नहीं हो सकता है एवं जड़ भूताकाश भी चेतन ब्रह्मरूप नहीं हो सकता है। ऐसे उपकोसलके वचनोंको श्रवण करके अग्नियोंने कहा कि—हे सोम्य! **'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्'।** अर्थ—जो 'कं' कहिये सुख है, सोई 'खं' कहिये विभु है। और जो विभुरूप 'खं' है, सोई सुखरूप 'कं' है इति।

तहां लोकमें खं शब्द भूताकाशमें प्रसिद्ध है, यदि खं का विशेषणरूप करके, सुखका वाचक कं शब्दका ग्रहण नहीं करते, तो "केवल भूताकाशमें ब्रह्म शब्द प्रतीकके अभिप्राय करके प्रयुक्त है" ऐसी प्रतीति होगी।

शंका। प्रतीकके अभिप्रायसे ही यहां 'खं ब्रह्म' का उपदेश क्यों न हो?

समाधान। 'अप्रतीकालम्बनान्नयति' इस न्यायसे इस विद्यामें अर्चिरादि मार्गका उपदेश असङ्गत हो जावेगा, अतः यह प्रतीकउपासना नहीं है। अर्थात् **'आश्रयान्तरप्रत्ययस्याश्रयान्तरे शास्त्रीयः क्षेपः प्रतीकः।'** अन्यविषयक बुद्धिका व शब्दका अन्यमें शास्त्रीय क्षेपका नाम प्रतीक है। जैसे परमात्मविषयक ब्रह्म शब्दका नामादिकोंमें क्षेप कहिये प्रयोग करते हैं—**'इदमेव तद्ब्रह्म यन्नामेति'** सो ब्रह्म यही है जो नाम है, अर्थात् नामकी ब्रह्मरूप करके उपासना करनी। यहां नाममें ब्रह्मशब्दका प्रयोग प्रतीकके अभिप्राय करके है। तैसे खं शब्द भी प्रतीकके अभिप्राय करके भूताकाशमें प्रयुक्त है—**'इदमेव तद्ब्रह्म यद्भूता-**

काशमिति' सोई यह ब्रह्म है जो भूताकाश है। अर्थात् भूताकाशकी ब्रह्मरूप करके उपासना करनी। और जब खं का विशेषण रूप करके कं को कहा, तब कं शब्द करके खं शब्दके अर्थमें भूताकाशत्वकी व्यावृत्ति हुई इति।

तथा साधनपारतन्त्र्य, अनित्यत्वादिक दोषरूप आमय करके सहित जो विषय इन्द्रियोंका संपर्कजन्य सुख है, तिसमें 'कं' शब्द प्रसिद्ध है। यहां यदि कं का विशेषण रूप करके खं को नहीं कहते तो 'लौकिक सुख ब्रह्मरूप है' ऐसी प्रतीति होगी। अर्थात् "लौकिक सुख ब्रह्मरूप करके उपास्य है" ऐसा बोध होगा। परन्तु प्रसङ्गमें ऐसा है नहीं। और जब कं का विशेषण रूप करके खं को कहा तब विभुत्व करके विशेषित सुखमें जन्यत्वादिक दोषोंकी निवृत्ति हो गई। अर्थात् परस्पर विशेषणों करके विशेषित जो कं तथा खं हैं सो दोनों मिलकर नित्य सुखरूप व्यापक ब्रह्मको बोधन करते हैं इति।

शंका। एक ब्रह्मको ही ध्येय होनेसे ब्रह्म पदका जो अभ्यास है सो वृथा है।

समाधान। यदि कं शब्दसे उत्तर ब्रह्म शब्दको नहीं कहते अर्थात् 'कं खं ब्रह्म' ऐसा ही कहते, तो कं शब्द खं निष्ठ भूतत्वकी व्यावृत्ति करके ही चरितार्थ हो जायगा, सुख रूप गुणमें ध्येयत्वको नहीं बोधन करेगा। अर्थात् सुखमें अध्येयत्व हो जायगा। और यहां गुणी ब्रह्मकी तरह सुखरूप गुणमें भी ध्येयत्व इष्ट है। अतः 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इस प्रकार ब्रह्मशब्दशिरस्त्वको अर्थात् ब्रह्म शब्दको कं खं दोनों के उत्तर कहा है। क्योंकि अर्चिरादि मार्गके उपदेशसे यह सगुण ब्रह्मविद्या है। इस पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्म पदका अभ्यास व्यर्थ नहीं है। तथा च सुख-विशिष्ट ब्रह्म ही निर्दिष्ट है यह सिद्ध हुवा इति।

और अग्नियोंने आत्मविद्या पद करके उपसंहार किया है इसलिये भी यहां प्रकृत ब्रह्म ही ग्रहण करनेको योग्य है। इस अर्थको अब भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं:—'प्रत्येकं च' इत्यादि। गार्हपत्य अग्निने उपकोसलके प्रति कहा कि—हे उपकोसल! पृथिवी, अग्नि, अन्न, आदित्य, यह चारों हमारी शरीररूप विभूति हैं। और आदित्यमण्डलमें जो पुरुष है सो मैं ही हूं। और अन्वाहार्यपचन अग्निने कहा कि—हे सोम्य! आप, दिशा, नक्षत्र, चन्द्रमा, यह चारों हमारी विभूति हैं। और चन्द्रमण्डलमें जो पुरुष है सो मैं ही हूं। और आहवनीयने कहा कि—हे उपकोशल! प्राण, आकाश, द्यौ, विद्युत्, यह चारों हमारी महिमारूप विभूति हैं। और विद्युत्में जो पुरुष है सो मैं ही हूं। इस प्रकार तीनों अग्नियोंने अपनी अपनी विद्याका उपदेश करके कहा कि—हे उप-कोसल! यह तुझको हमने अपनी विद्या कही, और पूर्व हम तीनोंने मिलकर 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' इस मन्त्र करके तुम्हारेको आत्मविद्याका उपदेश किया है। इस प्रकार उपसंहार करते हुये अग्नि देवता 'पूर्व हमने ब्रह्मका उपदेश

किया है' यह स्पष्ट ज्ञापन करती हैं । अतः 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस मन्त्रमें भी पुरुष शब्द करके ब्रह्म ही निर्दिष्ट है ।

शंका । "अग्नियोंने ब्रह्मका उपदेश किया है, और गुरुने अक्षिमें छायात्मा-का उपदेश किया है" ऐसा मानना ही उचित है, क्योंकि वक्ताके भेद होनेसे उपदेशके विषयका भी भेद हो सकता है ?

समाधान । 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' इस मन्त्रकरके गतिमात्रके अभिधा-नकी जो प्रतिज्ञा है; सो परमात्मासे भिन्न छायादिरूप अर्थान्तरकी विवक्षाको वारण करती है । अर्थात् प्रतिज्ञाबलसे एकवाक्यताके निश्चय हुये वक्ताके भेद हुये भी उपदेशके विषयरूप अर्थका भेद नहीं हो सकता है । और—'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' यह मन्त्र भी अक्षिस्थ पुरुषको जाननेवाले पुरुषमें पापकर्मके असम्बन्धको कहता हुवा, अक्षिस्थ पुरुषमें ब्रह्मत्वको ही बोधन करता है । अतः प्रकृत ब्रह्ममें ही अक्षिस्थानताको तथा संयद्वा-मत्वादि गुणोंको कहकर "हम अक्षिस्थ पुरुषको जाननेवाले पुरुषके लिये अर्चिरा-दिक गतिको कहेंगे" इस अभिप्रायसे आचार्य उपक्रम करते हैं:—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच' इति । इस पूर्वोक्त रीतिसे नेत्रमें स्थित पुरुष ब्रह्म है, छायादिक नहीं, यह सिद्ध हुवा इति ॥ १५ ॥

प्रकरणसे अक्षिस्थ पुरुषमें ब्रह्मत्वको कहकर, अब लिङ्गसे भी अक्षिस्थ पुरुषमें ब्रह्मत्वको सूत्रकार कहते हैं: —

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

अर्थ—१ श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानात्, २ च । इस सूत्रमें दो पद हैं । इस हेतुसे भी 'य एषोऽक्षिणि पुरुषः' इस श्रुतिमें स्थित अक्षिस्थ पुरुष परमेश्वर ही है । क्योंकि 'श्रुता' कहिये अनुष्ठान करी है, 'उपनिषत्' कहिये रहस्य अर्थात् सगुण ब्रह्मकी उपासना जिसने तिस पुरुषका नाम 'श्रुतोपनिषत्क' है । तिस उपासकके लिये जो श्रुति स्मृतियोंमें प्रसिद्ध देवयानगति कही है । तिस ही गतिका प्रकृत अक्षिमें स्थित पुरुषके विज्ञाता उपकोसलके प्रति आचार्यने भी अभिधान किया है । अतः इस गतिका अभिधानरूप लिङ्ग करके भी अक्षिमें स्थित परमात्माका ही ग्रहण करना, क्योंकि छाया व जीवके उपासकको उत्तरायण मार्ग नहीं मिलता है इति ।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते एतद्वै प्राणानामायतनमेतद-मृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते' इति (प्रश्न०)

अर्थ – देहपातसे अनन्तर–स्वधर्मरूप तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, विद्यादिकों करके 'आत्मा-नमन्विष्य' कहिये आत्माकी खोज अर्थात् ध्यान करके उत्तर देवयान मार्गको प्राप्त होकर उपासक पुरुष आदित्यद्वारा हिरण्यगर्भरूप सगुण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । और यह कार्यरूप

ब्रह्म व्यष्टि तथा समष्टि प्राणोंका आयतन है। और यह वस्तुतः अमृत अभयादिरूप है। तथा निर्गुण है। सर्वका अधिष्ठान है। अतः कार्य ब्रह्मको प्राप्त होकर पुनरावृत्तिको नहीं प्राप्त होते हैं। अर्थात् अन्तमें तिस कार्य ब्रह्मके यथार्थ निर्गुण स्वरूपको जानकर मोक्षभावको प्राप्त होते हैं इति।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ इस स्मृतिका अर्थ अग्रिम श्रुतिके अर्थके अनुसार ही है। इत्यादिक श्रुति स्मृतियोंमें सगुण ब्रह्मको जाननेवाले ब्रह्मवित् पुरुषकी जो देवयान गति प्रसिद्ध है। सो ही गति प्रकृतमें भी उपकोसलके प्रति आचार्य करके कही हुई देखनेमें आती है। अतः अक्षिमें स्थित पुरुष परमेश्वर ही है।

शंका। आचार्यने उपकोसलके प्रति देवयान गतिका अभिधान कहां किया है?

समाधान। 'अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्ति' इस प्रकार उपक्रम करके आगे लिखा है:—

'आदित्याचन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते'। अर्थ—देहके पातसे आनन्तर्य 'अथ' शब्दका अर्थ है। और 'अस्मिन्' कहिये "सुखाकाशरूप अक्षिमें स्थित पूर्वोक्त संयद्वामत्वादिक गुणविशिष्ट ब्रह्मरूप मैं हूँ" इस प्रकार अभेद रूप करके उपासना करनेवाले उपासक पुरुषके मृत हुये, पुत्रादिक 'शव्यं' कहिये शव सम्बन्धि कर्मको करें अथवा न करें, परन्तु उपासक पुरुष 'अर्चिषं' कहिये अग्निकी अभिमानिनी देवताको ही प्राप्त होते हैं। और अग्निदेवताद्वारा दिवसके देवताको प्राप्त होते हैं। और दिवसकी देवताद्वारा कलाओं करके आपूर्यमाण शुक्लपक्षके अभिमानी देवको प्राप्त होते हैं। और शुक्लपक्षके देवद्वारा षण्मासकी अभिमानिनी उत्तरायणकी देवताको प्राप्त होते हैं। और उत्तरायणकी देवता संवत्सरकी देवताको प्राप्त करती है। और संवत्सरकी देवता आदित्यको प्राप्त करती है। और आदित्य चन्द्रमाको प्राप्त करता है। और चन्द्र विद्युतको प्राप्त करता है। और विद्युतलोकमें स्थित उपासकोंको लेनेके लिये मनुसृष्टिमें नहीं होनेवाला अमानव पुरुष ब्रह्मलोकसे आकर उपासकोंको ब्रह्मलोकमें प्राप्त करता है। और पूर्वोक्त अर्चिरादिक देवों करके विशिष्ट होनेसे उत्तरायणमार्गको देवपथ कहते हैं। तथा गन्तव्य ब्रह्मका योग होनेसे ब्रह्मपथ कहते हैं। और इस देवपथ करके कार्यब्रह्मके लोकमें प्राप्त जो उपासक हैं, सो घटीयन्त्रकी तरह वारम्वार जन्ममरणादिरूप जो मनुकी सृष्टिरूप आवर्त है इस आवर्तको नहीं प्राप्त होते हैं इति।

इन पूर्वोक्त छान्दोग्य मन्त्रों करके जो अक्षिमें स्थित ब्रह्मवित्के लिये गति कही है। इस प्रसिद्ध गति करके अक्षिस्थ पुरुषमें ब्रह्मत्वका ही निश्चय होता है। अतः अक्षिमें स्थित पुरुष परमेश्वर ही है यह सिद्ध हुवा इति॥ १६॥

प्रथम वादीने जो कहा था कि—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस मन्त्रमें स्थित पुरुषशब्द करके अक्षिमें स्थित छायात्माका अथवा जीवात्माका अथवा

देवतात्माका ग्रहण करना ? सो वादीका कहना असंगत है। इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं:—

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

अर्थ—१ अनवस्थितेः, २ असंभवात्, ३ च, ४ न, ५ इतरः। इस सूत्रमें पांच पद हैं। परमेश्वरसे इतर जो छायादिक हैं तिनकी अक्षिमें नियम करके स्थितिका अभाव होनेसे, तथा छायादिकोंमें अमृतत्वादिक गुणोंका असंभव होनेसे, प्रसङ्गमें छायादिक ग्रहण करनेको अयोग्य हैं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—तहां प्रथम छायारूप प्रतिबिम्बकी निरन्तर चक्षुमें स्थिति नहीं बन सकती है। क्योंकि जिस कालमें दूसरा पुरुष चक्षुके समीपमें प्राप्त होता है, तिस कालमें ही चक्षुमें प्रतिबिम्ब देखनेमें आता है। और जब वह पुरुष चला जाता है, तब चक्षुमें प्रतिबिम्ब नहीं देखनेमें आता है। अतः अनवस्थित वस्तुमें सदा उपास्यत्व नहीं बन सकता है। किञ्च 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इस श्रुतिमें अव्यवधानसे अर्थात् स्वचक्षुको प्रथम उपस्थित होनेसे, 'अपने चक्षुमें दृश्यमान पुरुष ही उपास्य है' ऐसा कहना होगा। और अपने चक्षुमें स्थित छायात्माका अपने चक्षु करके प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। 'अतः छायासे विलक्षण पुरुष उपास्य है, इस अर्थको ही स्वीकार करना चाहिये।

शंका। यद्यपि अपने चक्षुमें स्थित छायात्मा अपने चक्षु करके दृश्यमान नहीं हो सकता है तथापि समीपमें स्थित दूसरे पुरुष करके दृश्यमान हो सकता है। अतः छायात्मा ही उपास्य है।

समाधान। जो पुरुष उपासना करता है, सो पुरुष उपासना कालमें दूसरे पुरुषको अपने समीपमें स्थापन करके उपासना करता है ऐसी कल्पना नहीं कर सकते। अतः यह शंका ही नहीं बन सकती है।

और छायारूप प्रतिबिम्बमें युक्ति करके सिद्ध जो अनवस्थितत्व है तिसमें श्रुतिको दिखाते हैं:—'**अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति**'। अर्थ—छायाका निमित जो बिम्बरूप शरीर है तिस बिम्बके नाशसे ही छायात्मा नाशको प्राप्त होता है इति। यह श्रुति छायात्मामें अनवस्थितत्वको भी दिखाती है। इस कहनेसे छायात्मामें अमृतत्वादिकोंका अभाव भी सिद्ध हो चुका क्योंकि विनाशी वस्तुमें अमृतत्वादिका असम्भव है। अतः छायात्मा उपास्य नहीं है इति।

अब जीवके निरासको दिखाते हैं:—'**तथा विज्ञानात्मनोऽपि**' इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् जैसे छायात्मामें उपास्यत्व नहीं है तैसे जीवमें भी उपास्यत्व नहीं बन सकता है। क्योंकि जीवात्माका समग्र देहइन्द्रियादिकोंके साथ सम्बन्धके हुये 'चक्षुमें ही जीव स्थित है' ऐसा नहीं कह सकते हैं। अर्थात् जैसे नेत्रवाले पुरुषको 'अहम्' इस प्रकारका जीवको अभिव्यक्तिरूप ज्ञान होता है। तैसे ही जन्मान्ध पुरुषको

भी 'अहम्' इस प्रकारका ज्ञान होता है। अतः 'चक्षु ही जीवका स्थान है' यह कहना अयुक्त है। और यद्यपि सर्वगत परमात्माका भी सर्वके साथ सम्बन्धके हुये, 'चक्षुमें ही परमात्मा स्थित है' यह भी नहीं कह सकते हैं। तथापि परमात्माकी उपलब्धिके लिये श्रुतियोंमें परमात्माका हृदयादिक देशविशेषके साथ सम्बन्ध देखनेमें आता है। अतः चक्षुरूप देशविशेषमें भी सम्बन्ध बन सकता है। और जैसे छायात्मामें अमृतत्वादिक गुणोंका अभाव है, तैसे विज्ञानात्मामें भी अमृतत्वादिक गुणोंका अभाव तुल्य है।

यद्यपि जीवात्मा तथा परमात्माका अभेद है; तथापि जीवमें अविद्या, काम, कर्म करके आरोपित मर्त्यत्व तथा भय विद्यमान है, अतः जीवमें अमृतत्व तथा अभयत्व नहीं बन सकता है। और जीवमें ऐश्वर्यका अभाव होनेसे पूर्वोक्त संयद्वामत्वादिक गुण भी नहीं बन सकते हैं, अतः अक्षिमें स्थित पुरुष जीव नहीं हो सकता है इति।

अब देवताके निरासको दिखाते हैं:—'रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः' इस श्रुति करके यद्यपि "रश्मियों द्वारा चक्षुमें आदित्यदेवता प्रतिष्ठित है" ऐसा बोध होता है। तथापि 'आत्मेति होवाच' इस श्रुति करके प्रतिपाद्य आत्मत्व आदित्यदेवतामें नहीं है। क्योंकि आत्मत्व प्रत्यग्‌में होता है पराक्‌में नहीं। और आदित्यदेवता पराक् (बाह्य) है। और आदित्यमें अमृतत्वादिक धर्म भी नहीं बन सकते हैं। क्योंकि 'चक्षोः सूर्यो अजायत' 'सूर्योऽस्तमेति' इत्यादिक श्रुतियोंमें आदित्यकी उत्पत्ति तथा प्रलयका श्रवण होता है। और देवतावोंमें जो अमृतत्वादिक कहे हैं। सो भी चिरकाल अवस्थानकी अपेक्षासे कहे हैं ऐसा जानना। और जो देवतावोंका ऐश्वर्य है, सो भी परमेश्वरके अधीन है स्वाभाविक नहीं। क्योंकि 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥' यह तैत्तिरीय मन्त्र देवतावोंमें परतन्त्रताको स्पष्ट बोधन करता है। अतः पूर्वोक्त रीतिसे अक्षिस्थानमें परमेश्वर ही ग्रहण करनेको योग्य है इति।

शंका। ईश्वरमें भी 'दृश्यते' इस पद करके जो प्रसिद्ध घटादिकोंकी तरह दृश्यत्वका अभिधान श्रुति करती है सो अयुक्त है, क्योंकि ईश्वर अदृश्य है।

समाधान। इस ईश्वर पक्षमें प्रसिद्ध घटादिकोंके लौकिक दर्शनोंकी तरह 'दृश्यते' यह पद ईश्वरके दर्शनको बोधन नहीं करता है। किन्तु शास्त्रीय तथा विद्वानोंके अनुभवकी अपेक्षा करके ईश्वरके दर्शनको बोधन करता है। अर्थात् उपलब्धिका नाम दर्शन है। तहां शास्त्रीय दर्शनका करण शास्त्र ही होता है। अतः अज्ञानी पुरुषोंकी अभिरुचिके लिये विद्वानोंमें प्रसिद्ध शास्त्रीय दर्शनको 'दृश्यते' यह पद प्रसिद्ध लौकिक दर्शनकी तरह अनुवाद करता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे उपकोसलवाक्य सगुण ब्रह्ममें ही समन्वित हुवा, ऐसा जानना इति ॥ १७ ॥

॥ इति अन्तराधिकरणम् ॥

शंका । 'स्थानादिव्यपदेशाच्च' (सू० १४) इस सूत्रमें सर्वगत परमात्माके जो पृथिवी आदिक स्थान कहे हैं सो असङ्गत हैं । क्योंकि व्यापक होनेसे आकाश-की तरह परमात्मा अवृत्ति (आधाररहित) है इस आक्षेपके हुये सूत्रकार समाधान कहते हैं:—

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मोपदेशात् ॥ १८ ॥

अर्थ—१ अन्तर्यामी, २ अधिदैवादिषु, ३ तद्धर्मोपदेशात् । इस सूत्रमें तीन पद हैं । श्रुतिमें अन्तर्यामी शब्द करके अधिदैवादिकोंमें स्थित परमात्माका ही ग्रहण करना देवादिकोंका नहीं, क्योंकि परमात्माके जो सर्वनियन्तृत्व, अमृतत्वादिक धर्म हैं तिन धर्मोंका श्रुतिमें कथन किया है इति ।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं । बृहदारण्यकके तृतीय अध्यायमें यह प्रसङ्ग है कि—एक समय राजा जनकने अपने यज्ञमें दूर २ के विद्वानोंको एकत्रित करके सभा करी, और 'इन विद्वानोंमें विशेष विद्वान् कौन है" ऐसी जिज्ञासासे एक हजार गायोंको मंगाया, दश २ पाद सुवर्ण एक २ गायके शृङ्गमें बधा था । कर्षका नाम पाद (१६ माषा) है । फिर राजा जनकने सभामें उपस्थित होकर कहा कि—हे ब्राह्मणाः ! जो विद्वान् ब्रह्मिष्ठ होवे सो इस धनको स्वीकार करे । तिस समय तिस धनको स्वीकार करनेमें किसीका साहस नहीं हुवा । पीछे याज्ञवल्क्यने विद्वत् समाजके रहते २ "किसीको ब्रह्मिष्ठत्व स्वीकार न करना" अनुचित समझकर अपने सामाध्यायी शिष्यको आज्ञा करी कि—'सर्व धनको ले जावो ।' शिष्यके धन ले जाने पर ब्राह्मण लोग क्रुद्ध हो गये । इसके पीछे जनकका होता अश्वल याज्ञवल्क्यसे बोला—हे याज्ञवल्क्य ! क्या तू ब्रह्मिष्ठ है ? याज्ञवल्क्य कहने लगे—ब्रह्मिष्ठको मैं नमस्कार करता हूं, गोकामनावाले हम हैं । इसके बाद अश्वल, आर्तभाग, भुज्यु, उषस्त, कहोल, ये ऋषि क्रमसे शास्त्रार्थ करके परास्त हो गये । पश्चाद् जब गार्गी शास्त्रार्थमें बहुत प्रश्न करने लगी तब याज्ञवल्क्य बोले—हे गार्गी ! तू अति प्रश्नोंको करना छोड़ दे नहीं तो तेरा शिर गिर जायगा । पीछे गार्गी उपराम हो गई । इसके पीछे अरुण ऋषिके पुत्र उद्दालक याज्ञवल्क्यसे बोले—हे याज्ञवल्क्य ! हम मद्रदेशमें पतञ्चल नामक काप्य ऋषिके गृहमें यज्ञशास्त्रको अध्ययन करते थे, पतञ्चल ऋषिकी भार्यामें गन्धर्व आविष्ट था, तिस गन्धर्वको हमने पूछा—'तुम कौन हो' ? सो बोला—'मैं कबन्ध नामक गन्धर्व हूं ।' पुनः गन्धर्व बोला—हे पतञ्चल ! यह लोक तथा परलोक जिसमें ग्रथित है तिस सूत्रात्माको तुम क्या जानते हो ? पतञ्चल—हे भगवन् ! मैं तिसको नहीं जानता । गन्धर्व—हे पतञ्चल ! तिस अन्तर्यामीको तुम जानते हो—

'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयति'

अर्थ—जो इस लोकको तथा परलोकको तथा सर्व भूतोंको अन्तर विद्यमान हुवा नियमन करता है इति । पतञ्चल—हे भगवन् ! मैं नहीं जानता । गन्धर्व—हे पतञ्चल !

जो तिस सूत्रात्माको व अन्तर्यामीको जानता है सो ब्रह्मवित् है इत्यादि। पुनः हम सर्व शिष्योंके सहित पतञ्चल ऋषिको कृपाकर गन्धर्वने उपदेश किया है। सो मैं तिस सूत्रको तथा अन्तर्यामीको जानता हूं। सो हे याज्ञवल्क्य! तुम यदि तिस सूत्रको तथा अन्तर्यामीको न जानकर ब्राह्मणोंके धनको लेगा तो तेरा शिर गिर जायगा। याज्ञवल्क्य—मैं जानता हूं। उद्दालक—जानता हूं २ कहते हो, यदि जानते हो तो जैसे जानते हो तैसे कहते क्यों नहीं? तब याज्ञवल्क्य प्रथम वायुरूप सूत्रके उपदेशको करके अन्तर्यामीका उपदेश करने लगे—'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' इत्यादि श्रवण होता है। अर्थ—हे उद्दालक! जो पृथिवीमें स्थित हुवा वर्तमान है। तथा जो पृथिवीके अन्तर है। तथा जिसको पृथिवीकी अभिमानिनी देवता नहीं जानती है। तथा जिसका पृथिवी शरीर है। अर्थात् पृथिवी देवताके जो शरीरादिक हैं सोई जिस अन्तर्यामीके कल्पित शरीरादिक हैं वस्तुतः नहीं। क्योंकि 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' यह मन्त्र शरीररूप कार्य तथा इन्द्रियादिक रूप करणोंको निषेध करता है। प्रश्नः—ऐसे अन्तर्यामीकी सत्तामें कोई अन्य प्रमाण है कि नहीं? उत्तर—'भीषाऽस्माद्वातः पवते' 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ' इत्यादि श्रुतिप्रमाण भी अन्तर्यामीके सत्त्वमें विद्यमान हैं। इस अभिप्राय करके कहते हैं:—'यः पृथिवीमन्तरो यमयति' जो परमात्मा अन्तर वर्तमान हुवा सूत्रात्मारूप पृथिवीकी अभिमानिनी देवताको 'यमयति' कहिये अपने व्यापारमें नियम करके प्रवृत्त करता है। सो परमात्मा ही शरीरादिक कार्यकरणका संघात-वाला जो तू है तेरा अन्तर्यामी रूप आत्मा है, तथा सर्व संसारके धर्मों करके रहित अमृतरूप है इति। इत्यादि वाक्य इस अधिकरणसूत्रके विषय हैं।

इस प्रकरणमें अधिदैव (पृथिव्यादिक देवता) अधिलोक (सर्वलोक) अधिवेद (सर्ववेद) अधियज्ञ (सर्व यज्ञ) अधिभूत (सर्वभूत) अध्यात्म (प्रमाणादिक सर्व करण) इनोंके अन्तर स्थित हुवा जो कोई इनोंका प्रेरक है सो अन्तर्यामी है ऐसा श्रवण होता है। अब शरीरादिकों करके रहित जो ब्रह्म है तिसमें नियन्तृत्वका सम्भव तथा असम्भव करके संशयको दिखाते हैं:—तहां अन्तर्यामी शब्द करके क्या अधिदैवादिकोंका अभिमानी किसी देवतात्माका ग्रहण करना, अथवा प्राप्तअणिमादि ऐश्वर्यवाला जो योगी पुरुष है तिस योगी पुरुषका ग्रहण करना, अथवा परमात्माका ग्रहण करना, अथवा किसी प्रधानादिक अर्थान्तरका ग्रहण करना। अर्थात् तीनोंसे विलक्षण किसी अन्य अर्थका ग्रहण करना। सन्देहका कारण यहां अन्तर्यामी इस अपूर्व संज्ञाका दर्शन है। क्योंकि ब्रह्मको व्यापार हीन होनेसे अधिदैवादिकोंके अन्तर स्थित हुवा प्रेरक दूसरा भी सायत बन सकता होवे? इस प्रकारका यहां संशय है॥ 'वस्तुतः यहां क्या प्रतीत होता है' ऐसी जिज्ञासाके हुये—

अथ पूर्वपक्ष। अन्तर्यामी इस संज्ञाको अप्रसिद्ध होनेसे अप्रसिद्ध ही अर्थान्तर रूप संज्ञी अन्तर्यामी शब्द करके ग्रहण करनेको योग्य है यह हमको प्रतीत होता है इति।

'अथवा * नानिरूपित' इत्यादि भाष्यम्। अथवा निरूपणका अविषय अर्थात् अप्रसिद्ध स्वरूप अर्थान्तरका स्वीकार नहीं बन सकता है। अतः यह अर्थान्तर पक्ष असिद्ध हैं। और अन्तर्यामी शब्द जो है सो अन्तर नियमनके योग करके प्रवृत्त हुवा है। अत अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं है। इसलिये पृथिवी आदिकोंका अभिमानी कोई देव अन्तर्यामी शब्द करके ग्रहण करनेको योग्य है। तहां श्रुतिः—'पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिः' इत्यादि बृ०। अर्थ—जिस देवका पृथिवी 'आयतन' कहिये शरीर है। और अग्नि लोक है। अर्थात् 'लोक्यतेऽनेनेति लोकः' इस व्युत्पत्ति करके चक्षुका नाम लोक है। और सर्व अर्थका प्रकाशक मनरूप ज्योति है। अर्थात् चक्षु जिसका असाधारण करण है, और मनरूप ज्योति साधारण करण है इति। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि—पृथिवी देव अग्निरूप चक्षु तथा मनरूप ज्योति करके सर्व अर्थको जानता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे शरीररूप कार्य तथा इन्द्रियरूप करणवाला होनेसे पृथिवी आदिकोंका अभिमानी कोई देव ही सर्वका अन्तर्यामी मानना युक्त है। अतः अन्तर्यामी शब्द करके देवतात्मा ही ग्रहण करनेको योग्य है।

अब उपक्रमउपसंहार करके एक अन्तर्यामीके निश्चित हुये अनेक देवतापक्ष असङ्गत है। इस अरुचि करके योगीपक्षको दिखाते हैं:—'योगिनो वा कस्यचित् सिद्धस्य सर्वानुप्रवेशेन यमयितृत्वं स्यात्' इति भाष्यम्। अर्थ—सिद्ध जो कोई योगी पुरुष है तिस योगिमें, सर्व वस्तुमें पवेश करके यमयितृत्व बन सकता है। अत अन्तर्यामी शब्द करके किसी योगीका ही ग्रहण करना योग्य है इति। और यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि जिस परमात्माके अनुग्रहसे अनेक योगियोंमें नियमनादिक सामर्थ्य होती है तिस परमात्माकी उपेक्षा क्यों करते हो? यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। क्योंकि योगी कार्यकरणवाला है, और परमात्मा कार्यकरण करके रहित है। और जो कार्यकरणवाला होता है उसीमें यमयितृत्व होता है, जो कार्यकरण रहित होता है उसमें यमयितृत्व नहीं होता है। अतः कार्यकरण करके रहित परमात्मा अन्तर्यामी शब्द करके ग्रहण करनेको अयोग्य है इति।

अथ सिद्धान्तपक्षः‡। अधिदैवादिकोंमें जिस अन्तर्यामीका श्रवण होता है सो परमात्मा ही है देवतादिक नहीं, क्योंकि प्रसङ्गमें परमात्माके ही धर्मोंका निर्देश देखनेमें आता है। तहां परमात्माका असाधारण धर्म जो सर्वका नियन्तृत्व है तिसको दिखाते हैं:-अधिदैवादिक भेद करके भिन्न भिन्न जो पृथिवी आदिक समस्त विकारसमूह है, तिस विकारसमूहके अन्तर स्थित हो करके जो सर्वका नियामकत्व, इस प्रकरणप्रतिपाद्य अन्तर्यामीमें श्रवण होता है;

* अब स्वयं पूर्वपक्षी इस पक्षमें अरुचिको दिखाता हुवा पक्षान्तरको कहता है।

‡ पूर्वपक्षमें देवतावोंकी अथवा योगी आदिककी उपासना फल है, सिद्धान्तमें परमात्माकी उपासना फल है।

सो यह सर्वका नियन्तृत्वरूप धर्म परमात्मामें ही बन सकता है। क्योंकि परमात्मामें ही सर्व विकारके कारणत्वकी तथा सर्वविषयक शक्तिकी उपपत्ति हो सकती है। यहां भाव यह है कि—योगाभ्यासादिक साधनके अधीन शक्तिवाले योगीके ग्रहणमें गौरव है। और नित्य सिद्ध शक्तिवाले परमेश्वरके ग्रहणमें लाघव है। अतः यहां परमेश्वर ही सर्वका नियन्ता अन्तर्यामी है योगी नहीं ऐसा जानना।

और **'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः'** इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य मुख्य आत्मत्व तथा अमृतत्वरूप जो धर्म हैं सो भी परमात्मामें ही बन सकते हैं अन्यमें नहीं।

और **'यं पृथिवी न वेद'** यह मन्त्र भी पृथिवीकी अभिमानिनी देवता करके अविज्ञेय अन्तर्यामीको कहता हुवा देवतात्मासे भिन्न ही अन्तर्यामीको दिखाता है। अर्थात् जैसे सर्व प्राणियोंको 'अहं' इस प्रकारका ज्ञान होता है, तैसे ही जब पृथिवी देवताको 'अहं' ज्ञान होता है तो 'मैं पृथिवी हूं' इस प्रकारसे आत्माको जानती है। मेरे अन्तर कोई अन्य अन्तर्यामी वर्तमान है ऐसा विनाशास्त्रके नहीं जान सकती है।

और **'अदृष्टोऽश्रुतः'** इत्यादिक श्रुतिमें जो अदृष्टत्व, अश्रुतत्वादिक धर्म कहे हैं; सो भी रूपादिकों करके रहित होनेसे परमात्मामें ही बन सकते हैं।

शंका। कार्यकरण करके रहित परमात्मामें नियन्तृत्व नहीं बन सकता है। इस अर्थमें अनुमानको दिखाते हैं—**'ईश्वरो, न नियन्ता, अशरीरत्वात्, घटवत्'।** अर्थ—जैसे घटरूप दृष्टान्तमें अशरीरत्वरूप हेतु है, और नियन्तृत्वका अभावरूप साध्य है। तैसे ईश्वर रूप पक्षमें भी अशरीरत्वरूप हेतु है, अतः नियन्तृत्वका अभावरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। इस अनुमान करके परमात्मामें नियन्तृत्वका अभाव सिद्ध हुवा।

समाधान। यह दोष नहीं हो सकता है, क्योंकि नियम्य स्वशरीरसे अतिरिक्त शरीरशून्यत्वरूप अशरीरत्व हेतु है? अथवा शरीरमात्रका असम्बन्धित्वरूप अशरीरत्व हेतु है? तहां प्रथम पक्ष तो नहीं बन सकता है। क्योंकि स्वदेहके नियन्ता जीवमें नियम्यस्वशरीरसे अतिरिक्त शरीरशून्यत्वरूप हेतु रह गया, और नियन्तृत्वाभावरूप साध्य नहीं रहा; अतः साध्यके अभाववालेमें रहनेवाला यह हेतु व्यभिचारी हुवा। और द्वितीय पक्ष भी नहीं बन सकता है। क्योंकि ब्रह्ममें स्वअविद्या करके अर्जित सर्वपदार्थके साथ सम्बन्धको विद्यमान होनेसे शरीरमात्रका असम्बन्धित्वरूप हेतु नहीं रहेगा। अतः पक्षमें हेतुका अभावरूप स्वरूपासिद्धि दोषवाला यह हेतु होगा। अर्थात् इस दुष्ट हेतु करके ईश्वरमें नियन्तृत्वका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है।

और अब 'परमेश्वरके शरीरादिक भी बन सकते हैं' इस अर्थको भाष्यकार

दिखाते हैं:—'यान्नियच्छति तत्कार्यकरणैरेव तस्य कार्यकरणवत्त्वोपपत्तेः'। अर्थ-परमात्मा जिन २ पृथिवी आदिक जीवोंको प्रेरणा करता है, तिन २ जीवोंके शरीरादिकों करके ही ईश्वरमें भी शरीरादिक बन सकते हैं इति।

और 'सशरीर ही नियन्ता होता है' इस लोकदृष्टिके अनुसार यह कहा है। वास्तवसे तो चेतनके सानिध्यमात्रसे जो जड़ वस्तुका व्यापार है तिसका नाम नियमन (नियम्यत्व) है। और तिस नियमनकी जो परमात्मामें शक्ति है तिसका नाम नियन्तृत्व है। ऐसा नियन्तृत्व अचिन्त्य मायारूप शक्तिवाले चिदात्मामें शरीरादिकोंसे विना भी बन सकता है ऐसा जानना इति।

शंका। यदि देहके नियन्ता जीवका भी दूसरा कोई नियन्ता अङ्गीकार करोगे तो उसका भी कोई तिसरा नियन्ता अङ्गीकार करना होगा, इस रीतिसे अनवस्था दोष होगा?

समाधान। वेद करके प्रतिपाद्य जो निरङ्कुश सर्वका नियन्तृत्व है सो केवल ईश्वरमें ही श्रवण होता है। और यदि ईश्वरका भी कोई दूसरा नियन्ता मानोगे तो श्रुतिका बाध होवेगा। इसलिये श्रुतिके बाधके भयसे ईश्वरका नियन्ता दूसरा नहीं मान सकते। अतः अनवस्था दोष नहीं हो सकता है। अथवा जो वादीने कहा था कि स्वदेहका नियन्ता जो जीव है तिस जीवका नियन्ता यदि ईश्वरको मानोगे तो ईश्वरका भी नियन्ता कोई दूसरा मानना पड़ेगा, इस रीतिसे अनवस्था दोष होगा? सो भी वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि 'ईश्वरसे जीव भिन्न है' इस प्रकार भेदकी कल्पना करके जीवमें नियन्तृत्वको कहा है। यदि सत्य भेद होता तो अनवस्था दोष होता, सो वास्तवमें सत्य भेद है नहीं। अतः 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' इत्यादिक श्रुतियोंका भी अर्थ समीचीन बन सकता है। किंवा 'सर्वस्येशानः' 'सर्वस्येश्वरः' इत्यादिक श्रुतियों करके प्रतिपाद्य जो सर्वका नियन्तृत्व है, सो भी ईश्वरसे भिन्न ईश्वरके नियन्तृत्वका अभावके अङ्गीकार पक्षमें ही बनेगा। अन्यथा 'सर्व' पदका सङ्कुचित अर्थ मानना पड़ेगा। परन्तु सङ्कोचमें कोई प्रमाण है नहीं। अत एक ईश्वर ही सर्वका नियन्ता है। इसलिये अनवस्था दोष नहीं हो सकता। इस पूर्वोक्त रीतिसे परमात्मा ही अन्तर्यामी शब्द करके ग्रहण करनेको योग्य है यह सिद्ध हुवा इति॥ १८॥

शंका। सांख्य स्मृति करके कल्पित जो प्रधान है, तिस प्रधानमें अदृष्टत्वादिक धर्म बन सकते हैं। क्योंकि सांख्यवादियोंने रूपादिकों करके रहित प्रधानको स्वीकार किया है। इस अर्थको दिखाते हैं:—'अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' अर्थात् प्रधान 'अतर्क्य' है कहिये महदादिरूप करके प्रधान क्यों प्रवृत्त हुवा? और किस हेतुसे अन्यरूप करके प्रवृत नहीं हुवा? इस प्रकारके तर्कका अविषय है। और 'अविज्ञेय' है कहिये रूपादिकों

करके रहित होनेसे, चक्षुरादिकों करके अग्राह्य है। और जड़ होनेसे प्रधान सर्वत्र सर्वदा सोये हुयेकी तरह है। इस प्रकार मनुस्मृतिमें लिखा है। और सर्व विकारोंका कारण होनेसे प्रधानमें सर्वका नियन्तृत्व भी बन सकता है। अतः पूर्वोक्त श्रुतिमें अन्तर्यामी शब्द करके प्रधानका ही ग्रहण करना? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार समाधान कहते हैं:—

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १६ ॥

अर्थ—१ न, २ च, ३ स्मार्तम्, ४ अतद्धर्माभिलापात्। इस सूत्रमें चार पद हैं। सांख्य स्मृति करके प्रतिपाद्य जो प्रधान है सो अन्तर्यामी शब्द करके ग्रहण करनेको योग्य नहीं है। क्योंकि 'अतत्' कहिये प्रधानसे भिन्न जो चेतन है तिस चेतनके धर्मोंका यहां अन्तर्यामीमें कथन है इति।

शंका। 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रमें प्रधानका खण्डन कर ही आये हैं। पुनः इस सूत्रके उत्थानका क्या तात्पर्य है?

समाधान। यद्यपि पूर्व प्रधानका निराकरण कर आये हैं, तथापि अन्तर्यामी ब्राह्मणमें कहे हुये अदृष्टत्वादिक धर्मोंका प्रधानमें भी सम्भव हो सकता है। अतः यहां पुनः आशंका करके सूत्रकारने इस उत्तर सूत्रको रचा है। तात्पर्य यह है कि—यद्यपि अदृष्टत्वादिक धर्मोंका कथन प्रधानमें बन सकता है। तथापि यहां 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता' बृ०। इत्यादि वाक्यशेष करके प्रतिपाद्य जो द्रष्टृत्वादिक धर्म हैं; तिनका प्रधानमें व्यपदेश नहीं बन सकता है। क्योंकि प्रधानवादियोंने प्रधानको अचेतन माना है। और प्रधानमें 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' इस श्रुति करके प्रतिपाद्य आत्मत्वादिक धर्म भी नहीं बन सकते हैं। अतः पूर्वोक्त रीतिसे अन्तर्यामी शब्द करके परमात्माका ही ग्रहण करना योग्य है प्रधानका नहीं, यह सिद्ध हुवा इति ॥ १६ ॥

शंका। यद्यपि प्रधानमें आत्मत्वादिक व द्रष्टृत्वादिक धर्मोंका असम्भव होनेसे अन्तर्यामी शब्द करके प्रधानका ग्रहण नहीं हो सकता है। तथापि शारीर जो जीव है तिसका अन्तर्यामी शब्द करके ग्रहण बन सकता है। क्योंकि जीवको चेतन होनेसे द्रष्टृत्व, श्रोतृत्व, विज्ञातृत्वरूप धर्म बन सकते हैं। तथा जीवको प्रत्यग्रूप होनेसे आत्मत्व धर्म भी बन सकता है। तथा नाश रहित होनेसे अमृतत्व धर्म भी बन सकता है। क्योंकि जीवमें ही धर्माधर्मका फलभोग देखनेमें आता है। और यदि जीवको अमृतस्वरूप अविनाशी नहीं मानोगे तो कृतहानि अकृताभ्यागम दोष होवेगा। और जीवमें अदृष्टत्वादिक धर्म तो सुप्रसिद्ध हैं। क्योंकि दर्शनादिरूप क्रियाकी जीवरूप कर्तामें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् जैसे—'अयं पुरुषो ग्रामं गच्छति' यहां गमनरूप क्रियाका

विषय ग्रामरूप कर्म होता है पुरुषरूप कर्ता नहीं। तैसे ही दर्शनादिरूप क्रियाका विषय जीवरूप कर्तासे भिन्न ही दूसरा कर्मरूप पदार्थ होवेगा, कर्तारूप शारीर नहीं। इस अर्थमें श्रुतिप्रमाणको दिखाते हैं—'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः' अर्थ—जो दृश्यरूप दृष्टि है सो द्रष्टारूप आत्माको विषय नहीं कर सकती है इत्यादि इति। जीवका शरीरादिरूप कार्यकरणसंघातके अन्तर स्थित होकर प्रेरणा करनेका स्वभाव भी है। क्योंकि शारीर भोक्ता है। अतः पूर्वोक्त रीतिसे शारीर ही अन्तर्यामी है ? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार समाधान कहते हैं:—

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥

अर्थ—१ शारीरः, २ च, ३ उभये, ४ अपि, ५ हि, ६ भेदेन, ७ एनं, ८ अधीयते। इस सूत्रमें आठ पद हैं। पूर्व सूत्रसे नकारकी अनुवृत्ति करनी। शारीर जो जीव है सो अन्तर्यामी नहीं हो सकता। क्योंकि द्रष्टृत्वादि धर्म यद्यपि जीवमें बन सकते है, तथापि घटाकाशकी तरह जीवको शरीर उपाधि करके परिच्छिन्न होनेसे पृथिवी आदिक सर्व पदार्थोंके अन्तर स्थित होनेको तथा सर्वको प्रेरणा करनेको जीव समर्थ नहीं हो सकता है। और काण्व शाखावाले तथा माध्यन्दिन शाखावाले ये दोनों अन्तर्यामीसे भिन्न करके जीवको कथन करते हैं। तथा पृथिवी आदिकोंकी तरह अन्तर्यामीका आश्रयरूप करके तथा नियम्यरूप करके जीवको कथन करते हैं। वहां काण्व कहते हैं कि-'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यादि। माध्यन्दिन कहते हैं कि-'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादि। यहां श्रुतिमें जो 'विज्ञान' शब्द है सो जीवका वाचक है। क्योंकि विज्ञानप्रचुर होनेसे जीवका नाम विज्ञान है। तथा 'आत्म' शब्द जो है सो भी जीवका वाचक है। अर्थ यह है कि-जीवके अन्तर स्थित हुवा जो जीवको प्रेरणा करता है सो अन्तर्यामी है इति। इस कहनेसे 'शारीरसे भिन्न ईश्वर स्वरूप अन्तर्यामी है' यह सिद्ध हुवा इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—

शंका। एक ईश्वररूप अन्तर्यामी, दूसरा संघातका स्वामी शारीररूप जीव, ये दो द्रष्टा एक शरीरमें किस प्रकार रह सकते हैं ? यदि सिद्धान्ती कहे कि-एक शरीरमें दो द्रष्टावोंको रहनेमें क्या अनुपपत्ति है ? सो कहना बने नहीं, क्योंकि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिकी असङ्गतिरूप अनुपपत्ति होगी। यह श्रुति प्रकृत अन्तर्यामीसे भिन्न द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता, आत्माका निषेध करती है। यदि सिद्धान्ती कहे कि-यह श्रुति प्रकृत अन्तर्यामीरूप ईश्वरके नियन्ताका व द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता आत्माका निषेध करती है। जीवरूप द्रष्टासे भिन्न अन्तर्यामीरूप द्रष्टाका निषेध नहीं करती है। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। क्योंकि सर्वके नियन्ता ईश्वरमें दूसरे नियन्ता करके नियन्तव्यत्वकी शंका ही नहीं होती है। और यदि दूसरे नियन्ताका निषेध मानोगे तो अप्रसक्तका निषेध कहना होगा। क्योंकि ईश्वरसे भिन्न नियन्ता प्रसक्त है नहीं। और 'अन्योऽतोऽस्ति नियन्ता द्रष्टा' इस प्रकार नियन्ताविशेषका कहीं श्रुतिमें श्रवण भी नहीं होता है।

अतः 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुति एक द्रष्टासे भिन्न दूसरे द्रष्टादिकोंका सामान्यरूपसे ही निषेध करती हैं ईश्वरके ही नियन्ताका नहीं। यदि ईश्वरके नियन्ताका ही निषेध मानोगे तो श्रुतिका संकोचरूप बाध होगा। इस पूर्वोक्त रीतिसे एक शरीरमें एक ही द्रष्टा बन सकता है दो नहीं।

समाधान। 'अत्रोच्यते' इत्यादि भाष्यम्। जैसे 'घटाकाशः, महाकाशः' इस प्रकार घटादिरूप उपाधि करके निर्भेद आकाशमें भेदव्यवहार होता है। तैसे ही अविद्या करके जन्य शरीरादिरूप कार्यकरण उपाधि करके निर्भेद ब्रह्ममें शारीर तथा अन्तर्यामीका यह भेदव्यवहार होता है। पारमार्थिक नहीं है। अतः कल्पित भेद प्रयुक्त एक शरीरमें शारीररूप तथा अन्तर्यामीरूप दो द्रष्टा बन सकते हैं। और इसी अभिप्रायसे ही जीवसे भिन्न नियन्ता अन्तर्यामीको कहा है। और वास्तवमें प्रत्यग् आत्मारूप द्रष्टा एक ही है दो नहीं। क्योंकि जो अहं प्रत्ययका विषय होता है सो ही प्रत्यग् आत्मा है। यदि एक ही शरीरमें दो प्रत्यग् आत्मा मानोगे तो अहंबुद्धिविषयत्व दोनोंमें मानना होगा। परन्तु गौरव दोष करके ग्रस्त होनेसे दोनोंमें अहंबुद्धिविषयत्वका असम्भव है। किन्तु लाघव करके एक ही प्रत्यग् आत्मा अहंबुद्धिका विषय है। तिस प्रत्यग् आत्मासे भिन्न सम्पूर्ण अनात्मा हैं। अतः जीवात्मा तथा अन्तर्यामीरूप आत्माका परस्पर सत्य भेद नहीं बन सकता है। किन्तु उपाधिकृत कल्पित है। और कल्पित भेदके अङ्गीकारसे ही ज्ञाता ज्ञेय आदिकोंके भेदकी प्रतिपादक श्रुति तथा प्रत्यक्षादिक प्रमाण तथा संसारका अनुभव तथा विधिप्रतिषेधशास्त्र यह सर्व बन सकते हैं। इस अर्थमें श्रुतिको दिखाते हैं:—**यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति।** यह श्रुति अविद्याकालमें ही सर्व व्यवहारको दिखाती है। और **'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्'** यह श्रुति विद्याकालमें सर्व व्यवहारको वारण करती है। इस पूर्वोक्त रीतिसे अन्तर्यामीब्राह्मण ज्ञेय ब्रह्ममें समन्वित हुआ ऐसा जानना इति ॥२०॥

इति अन्तर्याम्यधिकरणम् ॥

मुण्डक उपनिषत्में ऐसा श्रवण होता है कि—शौनक ऋषि, विधिपूर्वक अङ्गिरा ऋषिके पास जाकर पूछता भया कि—हे भगवन्! किस वस्तुके विशेष करके निश्चित हुये, सम्पूर्ण यह कार्यसमूह विशेष करके निश्चित होता है। अर्थात् सर्व विज्ञानका हेतु जिस एक वस्तुका ज्ञान है, तिस एक वस्तुका आप मेरेको उपदेश करें? इस प्रकार शौनक ऋषिके पूछने पर जो अङ्गिरा ऋषि हैं, सो शौनक ऋषि करके पूछी हुई जो एक वस्तु है, तिस वस्तुको कहनेके वास्ते प्रथम कहने लगे कि—हे शौनक! दो विद्या जाननेको योग्य हैं। एक तो परमात्मविषयक फलरूप परा विद्या है। और धर्मके अनुष्ठानद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धिका हेतु जो "शिक्षादिक षडङ्ग सहित चारों वेदोंके अर्थोंका ज्ञान है" सो परा विद्याका उपकारक होनेसे साधनरूप दूसरी अपरा विद्या है।

ऐसा कहकर पुनः ऋषि परा विद्याको कहते भये—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।'

अर्थ—जिस विद्या करके सो वक्ष्यमाण विशेषणविशिष्ट अक्षररूप ब्रह्म प्राप्त होता है सो ब्रह्मका साक्षात्कार रूप परा विद्या है। सो ब्रह्म कैसा है-'अद्रेश्य' है कहिये सर्व ज्ञान इन्द्रियोंका अविषय है। तथा 'अग्राह्य' है कहिये कर्म इन्द्रियों करके ग्रहण करनेको अयोग्य है। तथा 'अगोत्र' है कहिये काश्यपादिरूप वंश करके रहित है। तथा 'अवर्ण' है कहिये ब्राह्मणत्वादिक जाति करके रहित है। तथा 'अचक्षुःश्रोत्र' है कहिये चक्षु श्रोत्रादिक ज्ञान इन्द्रियों करके रहित है। तथा प्रकृत ब्रह्म 'अपाणिपाद' है कहिये पाणिपादादिक कर्म इन्द्रियों करके शून्य है। तथा 'नित्य' है कहिये नाश रहित है। तथा 'विभु' कहिये विविध प्राणि विशेषरूप करके पैदा होता है। तथा 'सर्वगत' है कहिये व्यापक है। तथा 'सुसूक्ष्म' है कहिये स्थूलत्वके हेतु शब्दादिक गुणों करके रहित है। तथा प्रकृत ब्रह्म 'अव्यय' है कहिये अपक्षय रहित है। तथा भूतोंका 'योनि' है कहिये स्थावरजङ्गमरूप भूतोंका कारण है। तिस कारणरूप ब्रह्मको 'धीर' कहिये विवेकी पुरुष, जिस विद्या करके 'परिपश्यन्ति' कहिये अपने आत्माको जानते हैं, तिसका नाम परा विद्या है इति। इस मन्त्रको अग्रिम अधिकरणसूत्रका विषयवाक्य जानना।

शंका। "अन्तर्यामीवाक्यमें अन्तर्यामी शब्द करके प्रधानका ग्रहण नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रधानमें अद्रष्टत्वादिक धर्मोंके सम्भव हुये भी द्रष्टृत्वादिक धर्मोंका असम्भव है" ऐसा सिद्धान्ती कह आये हैं। परन्तु इस 'भूतयोनि'के वाक्यमें द्रष्टृत्वादिक धर्मोंका कथन न होनेसे तथा अद्रश्यत्वादिक धर्मोंका प्रधानमें सम्भव होनेसे 'भूतयोनि' शब्द करके प्रधानका ही ग्रहण करना चाहिये? ऐसी प्रधानवादीकी शंकाके हुये सूत्रकार उत्तर कहते हैं:—

अद्दश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः॥ २१॥

अर्थ—अद्दश्यत्वादिगुणकः, २ धर्मोक्तेः। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'अथ परा यया' इस विषयवाक्यमें 'भूतयोनि' शब्द करके परमेश्वरका ही ग्रहण करना प्रधानका नहीं। क्योंकि 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस वाक्यशेषमें जो चेतनके धर्म सर्वज्ञत्व सर्ववित्वादिक कहे हैं; सो केवल परमेश्वरमें ही बन सकते हैं प्रधानमें नहीं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं:—तहां 'यत्तदद्रेश्यं' इत्यादि वाक्यमें, अद्रश्यत्वादिक धर्मोंको ब्रह्म तथा प्रधानमें साधारण होनेसे संशयको दिखाते हैं:—यहां भूतयोनि शब्द करके क्या अद्रश्यत्वादिक गुणवाले प्रधानका ग्रहण करना, अथवा शारीरका ग्रहण करना, अथवा परमात्माका ग्रहण करना यह संशय है इति।

अथ **पूर्वपक्षः।** अचेतन जो प्रधान है सोई भूतयोनि है,यही युक्त है क्योंकि

जगत्के कारण भूतयोनिमें अचेतनोंका ही दृष्टान्तरूप करके ग्रहण किया है। तहां श्रुति–**यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि; तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।** अर्थ—जैसे अनायाससे 'ऊर्णनाभि'कहिये लूताकीट (मकरी) स्वदेहसे तन्तुवोंको उत्पन्न करता है तथा विहार करके उत्पन्न हुये तन्तुवोंको अपनेमें ही लय कर लेता है। और जैसे पृथिवीसे व्रीहि यवादिरूप औषधि उत्पन्न होती हैं। और जैसे जीवित पुरुषसे केश लोमादिक उत्पन्न होते हैं। तैसे ही सृष्टि कालमें अक्षरसे सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है इति। यहां अचेतनरूप दृष्टान्तोंके बलसे अक्षर शब्द करके अचेतन प्रधानका ही ग्रहण करना चाहिये।

शंका। इस वाक्यमें चेतनरूप ऊर्णनाभि तथा पुरुषको भी दृष्टान्तरूप करके कथन किया है, अतः चेतन ही अक्षररूप भूतयोनि है प्रधान नहीं।

समाधान। यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि केवल चेतनमें सूत्रयोनित्व तथा केशलोमयोनित्व नहीं बन सकता है। किन्तु चेतनकरके अधिष्ठित कहिये आश्रित जो अचेतन ऊर्णनाभिका शरीर है सो सूत्रोंका कारण है। तथा अचेतन ही पुरुषका शरीर केशलोमादिकोंका कारण है यह वार्ता प्रसिद्ध है। अतः पूर्वोक्त दृष्टान्तों करके चेतनसंयुक्त अचेतन प्रधान ही भूतयोनि है चेतन नहीं यह सिद्ध हुवा।

शंका। "प्रधानमें अदृष्टत्वादिक धर्मोंके अभिलापका सम्भव हुये भी द्रष्टृत्वादिक धर्मोंके अभिलापका असम्भव होनेसे प्रधान ग्रहण करनेको अयोग्य है" इस प्रकार प्रधान का खण्डन कर आये हैं। पुनः प्रधानमें भूतयोनित्वकी सम्भावनाको क्यों करते हो?

समाधान। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि **'यत्तदद्रेश्यम्'** इस श्रुति करके प्रतिपाद्य अदृश्यत्वादिक धर्मोंका प्रधानमें सम्भव हो सकता है। और प्रधानमें असम्भावित धर्मोंका कथन इस श्रुतिमें है नहीं। अतः प्रधानमें भूतयोनित्वकी सम्भावना समीचीन ही है।

शंका। **'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'** इस वाक्यशेष करके प्रतिपाद्य सर्वज्ञत्वादिक धर्मोंका अचेतन प्रधानमें असम्भव है, अतः 'प्रधान भूतोंका कारण है' यह प्रतिज्ञा कैसे कर सकते हो?

समाधान। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि **'यया तदक्षरमधिगम्यते' 'यत्तदद्रेश्यम्'** यहां अक्षर शब्द करके अदृश्यत्वादिक गुणवाले भूतयोनिको श्रवण कराके पुन आगे श्रवण कराया है—**'अक्षरात्परतः परः'** तथाच इस मन्त्रमें भूतोंका उपादान कारणरूप अक्षरसे पर जो सुना गया है सो सर्वज्ञ सर्ववित् पुरुष निमित्त कारण होगा, अत अक्षर शब्द करके निर्दिष्ट जो भूतयोनि है सो प्रधान ही है इति।

और यदि योनि शब्द निमित्तवाची मानोगे। तो शारीर जो जीव है सो भी भूतयोनि हो सकता है। क्योंकि धर्माधर्मरूप अदृष्टद्वारा सम्पूर्ण भूतोंके प्रति जीव भी निमित्त कारण है इति।

अथ **सिद्धान्तपक्ष**। 'सन्दिग्धे तु वाक्यशेषात्' अर्थात् जिस अर्थमें सन्देह होता है तिस अर्थका निर्णय वाक्यशेषसे होता है। इस न्याय करके जो अदृश्यत्वादिक गुणवाला भूतयोनि है सो परमेश्वर ही है, प्रधानादिक नहीं।

शंका। किस हेतुसे तुम ऐसा जानते हो?

समाधान। धर्मोक्तेः। अर्थात् 'यत्तदद्रेश्यं' इस मन्त्रके वाक्यशेषरूप श्रुतियोंमें परमेश्वरके ही धर्म देखनेमें आते हैं। तहां श्रुति—'**यः सर्वज्ञः सर्ववित्**' इत्यादि। अचेतनरूप प्रधानमें, तथा अविद्यादिक उपाधि करके परिच्छिन्न दृष्टिवाले जीवमें, सर्वज्ञत्व तथा सर्ववित्त्वादिक धर्म नहीं बन सकते हैं अतः परमेश्वर हो भूतयोनि है।

शंका। अक्षर शब्द करके निर्दिष्ट जो भूतोंका उपादान कारणरूप भूतयोनि प्रधान है, तिस भूतयोनिसे पर निमित्त कारणरूप परमात्मा ही सर्वज्ञ तथा सर्ववित् होगा ऐसा हम कह आये हैं। अतः 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' यह वचन भूतयोनि प्रधानविषयक नहीं है किन्तु ईश्वरविषयक है।

समाधान। यह वादीका कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि—मुण्डकमें **तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्'** इस वाक्य करके शौनक ऋषिके प्रति अङ्गिरा ऋषिने जायमान प्रपञ्चकी प्रकृतिरूप करके भूतयोनिको दिखाकर, आगे भी जायमान प्रपञ्चकी प्रकृतिरूप करके ही सर्वज्ञ तथा सर्ववित्को दिखाया है। तहां श्रुतिः—'**यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते**॥' अर्थ—जो अक्षररूप परमात्मा सर्वज्ञ है। तथा सर्ववित् है। और जिस अक्षर रूप परमात्माका 'ज्ञानमयं तप' है कहिये सृज्यमान सर्व पदार्थोंका अभिज्ञत्वरूप तप है। प्रजापतिव्रतादिकोंकी तरह क्लेशरूप नहीं। तिस उक्त सर्वज्ञ परमात्मासे एतत् 'ब्रह्म' कहिये कार्यरूप हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है। और तिस सर्वज्ञ परमेश्वरसे ही देवदत्त यज्ञदत्तादि नाम, तथा शुक्ल नीलादि रूप, तथा व्रीहि यवादिरूप अन्न उत्पन्न होता है इति। 'तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्' यहां जैसे अक्षररूप भूतयोनिमें जगत्का उपादानत्वको कहा है। तैसे ही 'यः सर्वज्ञः' इस मन्त्रमें भी सर्वज्ञत्वादि विशिष्टमें जगत्का उपादानत्वको कहा है। अत इस निर्देशके साम्य करके भूतियोनिकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे ऐसा निश्चय होता है कि—यह मन्त्र प्रकृत अक्षररूप भूतयोनिमें ही सर्वज्ञत्वादिक धर्मोंको कहता है। अतः सर्वज्ञ परमात्मा ही अक्षररूप भूतयोनि है।

और 'अक्षरात्परतः परः' यहां वादीने जो कहा था कि—अक्षरसे पर जो कोई है तिसको 'यः सर्वज्ञः' यह श्रुति कहती है, अक्षररूप भूतयोनिको नहीं? यह भी वादीका कहना असङ्गत है क्योंकि 'अक्षरात्परतः परः' इस श्रुतिमें भूतयोनिरूप अक्षरसे पर किसी अन्यका निर्देश नहीं है जिसको 'यः सर्वज्ञः' यह श्रुति बोधन करे।

शंका। तुम किस हेतुसे ऐसा जानते हो?

समाधान। 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्'।

अर्थ—शमादि साधन सम्पन्न तथा विधिपूर्वक ब्रह्मवित् आचार्यके शरणको प्राप्त जो शिष्य है तिसके प्रति आचार्य वेदान्तशास्त्र प्रतिपाद्य ब्रह्मविद्याको यथावत् कहे। जिस ब्रह्मविद्यारूप आत्मज्ञान करके त्रैकालाबाध्य स्वरूप जो अदृश्यत्वादिक गुणविशिष्ट अक्षररूप परमब्रह्म है तिस अक्षर ब्रह्मरूप पुरुषको शिष्य जाने इति। ऐसा उपक्रम करके वक्तव्य अक्षरकी प्रतिज्ञापूर्वक आगे कहा है:—'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः' इति। अतः इस मन्त्र करके कहा हुवा जो प्राण मन आदि करके रहित, शुद्ध, अक्षरसे पर, परमात्मा है सोई भूतयोनि है ऐसा निश्चय होता है। अर्थात् 'येनाक्षरं' इस मन्त्रमें अक्षररूप ब्रह्मका कथन किया है, और 'अप्राणो' इस मन्त्रमें अक्षरसे पररूप सर्वज्ञ परमात्माका कथन किया है। अतः "सर्वज्ञ परमात्मा स्वरूप जो अदृश्यत्वादिक गुण-विशिष्ट प्रकृत अक्षररूप भूतयोनि है सोई 'अक्षरात्परतः परः' इस उत्तरवाक्यमें 'पर' शब्दसे कहनेके योग्य है" ऐसा निश्चय होता है।

शंका। यदि पूर्वोक्त अर्थ समीचीन है तो 'अक्षरात्परतः परः' यह व्यवहार किस प्रकार होगा अर्थात् पञ्चम्यन्त 'अक्षर' शब्दका अर्थ भूतयोनि नहीं हुवा तो क्या अर्थ है?

समाधान। इस पञ्चम्यन्त 'अक्षर' शब्दका अव्याकृतरूप अर्थ अग्रिम सूत्रमें कहेंगे इति। किञ्च प्रथम जाननेके योग्य परा विद्या और अपरा विद्याको कह आये हैं। तहां प्रथम ऋग्वेदादिरूप अपरा विद्याको कहकर 'अथ परा यया तद-क्षरमधिगम्यते' इस मन्त्रमें परा विद्याका विषयरूप करके अक्षरका श्रवण होता है। यहां यदि परमेश्वरसे भिन्न अदृश्यत्वादि गुणवाले अक्षरकी कल्पना करोगे तो यह परा विद्या न होगी। क्योंकि मोक्षरूप फलवाली जो विद्या है तिसका नाम परा विद्या है। और स्वर्गादिरूप फलवाली जो विद्या है सो अपरा विद्या है। इस अभिप्राय करके ही परा विद्या तथा अपरा विद्या ऐसा विभाग किया है।

शंका। 'यः सर्वज्ञः' यह मन्त्र सर्वज्ञ परमात्मविषयिणी परा विद्याको कहता है, तथा 'यत्तदद्रेश्यम्' यह वाक्य प्रधानविषयिणी अपरा विद्याको कहता है।

समाधान। यह भी वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि प्रधानविषयिणी विद्या मोक्ष फलवाली किसीने अङ्गीकार नहीं करी है। और यदि ऐसा मानोगे तो तुम्हारे मतमें तीन प्रकारकी विद्या प्रतिज्ञात होगी—एक तो अपरा विद्या, दूसरी प्रधान विषयिणी विद्या, तीसरी अक्षररूप भूतयोनिसे भिन्न परमात्मविषयिणी परा विद्या। और श्रुतियोंमें दो ही प्रकारकी विद्या कही है। क्योंकि वस्तुतः यहां अक्षर रूप परमात्मा ही प्रतिपादन करनेको योग्य है।

किञ्च **'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'।** यहां एकके विज्ञान करके जो सर्वविषयक विज्ञानको कहा है सो भी सर्वात्मस्वरूप ब्रह्मकी विवक्षाके हुये ही बन सकता है। अचेतन मात्रका उपादान कारणरूप प्रधानके, अथवा जीवके विवक्षाके हुये, नहीं बन सकता है। क्योंकि प्रधानके ज्ञानसे प्रधानके कार्य मात्रका ज्ञान हुये भी प्रधानके अकार्य जीवोंका ज्ञान नहीं होगा। तथा जीवके ज्ञात हुये भी जीवके अकार्य भोग्य पदार्थोंका ज्ञान नहीं होगा। इस पूर्वोक्त रीतिसे भूतयोनि ब्रह्म ही है यह सिद्ध हुवा।

किञ्च 'ब्रह्मविद्या शब्दसे भी भूतयोनि ब्रह्म ही है' इस अर्थको दिखाते हैं:—
'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह।' इति। अर्थ—ब्रह्मा अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वाके प्रति कर्म उपासनादिरूप सर्वविद्याकी प्रतिष्ठा कहिये समाप्तिकी भूमिरूप जो ब्रह्मविद्या है तिसको उपदेश करता भया। अर्थात् ब्रह्मविद्या सर्व विद्याकी प्रतिष्ठारूप है। क्योंकि सर्वविद्यावोंका तथा सर्वविद्याके फलोंका ब्रह्ममें ही अन्तर्भाव है इति। इस प्रकार प्रधानरूपसे ब्रह्मविद्याका उपक्रम करके आगे परा अपरा विभाग पूर्वक अपरा विद्याको कहकर अक्षरअधिगामिनी परा विद्याको दिखाते हुये परा विद्यामें ब्रह्मविद्यात्वको श्रुति बोधन करती है। और तिस ब्रह्मविद्या करके प्राप्त होनेको योग्य जो अक्षर है तिस अक्षरको ब्रह्म न मानोगे तो 'ब्रह्मविद्या' यह समाख्या (संज्ञा) बाधित होगी। और पूर्वोक्त रीतिसे बाधित है नहीं। अतः 'भूतयोनिरूप अक्षर ब्रह्मस्वरूप है' ऐसा अवश्य मानना होगा इति!

शंका। यदि यहां ब्रह्मरूप अक्षर ही प्रतिपाद्य है तो परा विद्याके प्रकरणमें अपरा विद्याको क्यों कहा है?

समाधान। ऋग्वेदादिरूप अपरा कर्मविद्याको जो परा विद्याके प्रकरणमें कहा है सो ब्रह्मविद्याको प्रशंसा वास्ते कहा है।

अब वैराग्यके लिये कर्मफलकी तथा कर्मकर्ताकी निन्दाको दिखाते हैं। तहां श्रुतिः—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो

येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥ अर्थ—'एते' कहिये शास्त्रमें प्रसिद्ध जो यज्ञरूप हैं। अर्थात् जिनोंका यज्ञ करके निरूपण किया जाता है तिनोंका नाम यज्ञरूप है। अर्थात् यज्ञके करनेवालोंका नाम यज्ञरूप है। वह कैसे हैं? 'प्लव हैं' कहिये प्लव तुल्य हैं; जैसे क्षुद्र नदीके तरणे वास्ते तृण काष्ठादिकों करके निर्मित जो साधन विशेषरूप प्लव है सो समुद्र पारको प्राप्त करनेमें असमर्थ है। तैसे यह जो यज्ञके कर्ता हैं सो भी समुद्ररूप संसारका मोक्षरूप जो पार है तिसको कर्मद्वारा प्राप्त करनेको असमर्थ हैं। इसमें हेतुको कहते हैं-'अदृढाः' जिस कारणसे अदृढ़ हैं कहिये स्वल्पविघ्न करके प्रतिहत हुये स्वर्गको भी प्राप्त करनेको असमर्थ हैं। वह कितने हैं ऐसी शंकाके हुये कहते हैं 'अष्टादश' अठारह हैं-१ होता, २ अध्वर्यु, ३ ब्रह्मा, ४ उद्गाता, ५ प्रतिप्रस्थाता, ६ ब्राह्मणाच्छंसि, ७ प्रस्तोता, ८ मैत्रावरुण, ९ अच्छा वाक्, १० नेष्टा, ११ आग्नीध्र, १२ प्रतिहर्ता, १३ ग्रावस्तुत, १४ उन्नेता, १५ पोता, १६ सुब्रह्मण्य, यह षोडश ऋत्विज् हैं, तथा पत्नी तथा यजमान। इन अठारहोंमें शास्त्र करके कहा हुवा अनित्य फलवाला कर्म रहता है। और जो मूढ अज्ञानी पुरुष इस कर्मको मोक्षका साधन मानकर हर्षको प्राप्त होते हैं। सो उक्त कर्मी पुरुष किञ्चित् काल स्वर्गमें स्थित होकर पुनः जरा करके सहित मृत्युको प्राप्त होते हैं। अर्थात् वारंवार जन्म मरणको प्राप्त होते हैं इति। इत्यादिक वचनोंसे अपरा विद्याकी निन्दा करके, अनन्तर विरक्त पुरुषको परा विद्यामें अधिकारको श्रुति दिखाती है। तहां श्रुतिः—

'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥'

(मु०) अर्थ—कर्म करके सम्पादित स्वर्गादिक लोकोंको अनित्य निश्चय करके, अधिकारी पुरुष 'निर्वेद' कहिये वैराग्यको प्राप्त होता है। और 'अकृत' जो मोक्ष है सो 'कृत' कहिये कर्म करके प्राप्त नहीं होता है। किन्तु ब्रह्मविद्या करके ही मोक्ष होता है। इसलिये ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके निमित्त समित्पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास हो जावे इति। यह नियमविधि है।

और वादीने जो पूर्व कहा था कि "पृथिवी आदिक अचेतनोंको दृष्टान्तरूप करके ग्रहण किया है अतः दार्ष्टान्तिकमें भी अचेतनरूप ही भूतयोनिको ग्रहण करना चाहिये" यह भी वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक दोनोंमें अत्यन्त साम्य होना चाहिये ऐसा नियम नहीं है। किन्तु यत्किञ्चित् साम्य होना चाहिये। यहां पृथिवी आदिक जो दृष्टान्त हैं सो "कार्य जो होता है सो उपादान कारणसे अभिन्न होता है" इतने अंशमें हैं। किञ्च यदि तुम अत्यन्त साम्य मानोगे तो पृथिवी आदिक दृष्टान्त स्थूल हैं अतः दार्ष्टान्तिक जो भूतयोनि है सो भी स्थूल ही होना चाहिये। परन्तु यह तुम्हारेको इष्ट नहीं। इस पूर्वोक्त रीतिसे अदृश्यत्वादिक गुणवाला भूतयोनि परमेश्वर हो है अन्य नहीं यह सिद्ध हुवा। यहां पूर्वपक्षमें प्रधानादिकोंकी उपासना फल है, और सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मज्ञान फल है इति ॥ २१ ॥

भूतयोनि ब्रह्म है इस अर्थमें हेत्वन्तरको सूत्रकार दिखाते हैं—

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

अर्थ – १ विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम्, २ च, ३ न, ४ इतरौ। इस सूत्रमें चार पद हैं। इस हेतुसे भी परमेश्वर ही भूतयोनि है, इतर शारीर वा प्रधान भूतयोनि नहीं हैं। क्योंकि प्रकृत भूतयोनिको शारीरसे विलक्षण श्रुति कहती है। और भूतयोनिके जो दिव्यत्वादिक विशेषण कहे हैं; तिन विशेषणों करके विशिष्ट जीव नहीं हो सकता है। तथा प्रधानसे भी भूतयोनिको भिन्न कहा है। अतः प्रधान भी भूतयोनि नहीं हो सकता है। किन्तु परमेश्वर ही भूतयोनि है इति।

तहां प्रथम जीवपक्षके खण्डनको दिखाते हैं:—'**दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः**' इत्यादि। इस श्रुतिमें कहे हुये दिव्यत्वादिक विशेषणों करके विशिष्ट भूतयोनिरूप परमात्मा ही है, जीव नहीं। क्योंकि अविद्या करके रचित जो नामरूपात्मक शरीर है, तिस शरीर करके जो अल्पत्वरूप परिच्छेद है, तिस परिच्छेदका अभिमानी; तथा शरीरके जाड्यमूर्तत्वादिक धर्मोंको स्वात्मामें कल्पना करनेवाला; जो जीव है तिस जीवमें दिव्यत्व अप्राणत्व अमनस्त्व शुभ्रत्वादिक विशेषण नहीं बन सकते हैं। अतः साक्षात् उपनिषत्-प्रतिपाद्य पुरुषरूप परमात्मा ही भूतयोनि है।

और अब प्रधानपक्षके खण्डनको दिखाते हैं—'अक्षरात्परतः परः' यहां पर-सांख्यमतमें 'अक्षर' शब्द करके प्रतिपाद्य जो प्रधान है तिस प्रधानसे भी प्रकृत भूतयोनिको भिन्न कहा है।

शंका। अक्षर शब्द करके यदि प्रधानको कहोगे तो 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रमें जो वेद करके अप्रतिपाद्यत्वरूप अशब्दत्वको प्रधानमें कहा है सो बाधित होगा?

समाधान। सिद्धान्तमें अक्षर शब्द करके अव्याकृत (अविद्या) का ग्रहण करना। 'अश्नोति व्याप्नोति स्वविकारजातमित्यक्षरम्' अपने विकार-समूहको जो व्याप्त करे तिसका नाम अक्षर है। अर्थात् इस 'अक्षर' शब्दका अर्थ अविनाशी नहीं समझना। वह अक्षररूप अव्याकृत कैसा है कि—नामरूप जगत्का जो बीजरूप ईश्वर है तिस ईश्वरको शक्तिरूप है। तथा भूतोंके सूक्ष्म संस्कार हैं जिस अव्याकृतमें तिसका नाम भूतसूक्ष्म है। तथा 'ईश्वराश्रयम्' तत्पदका लक्ष्यार्थ चिन्मात्र है आश्रय जिसका तिसका नाम ईश्वराश्रय है। तथा तिस चिन्मात्रका-जो जीव, ईश्वर; इस प्रकारका भेद है तिस भेदको उपाधिरूप है।

यहां 'ईश्वराश्रयम्' 'ईश्वर' कहिये तत्पदका लक्ष्य चिन्मात्र है 'आश्रय' कहिये विषय जिस अव्याकृतरूप अज्ञानका. तिसका नाम ईश्वराश्रय है। यह जो नानाजीववादीका व्याख्यान है सो भाष्यसे बहिर्भूत है। अर्थात् नानाजीववादीका यह तात्पर्य है कि—मूल प्रकृतिरूप अज्ञान एक नहीं किन्तु

नाना है। और अज्ञान उपाधिवाला जीव भी नाना है। और वह अज्ञान जीवमें रहकर ब्रह्मको विषय करता है। अतः 'ईश्वराश्रयम्' यहां आश्रय शब्दका अर्थ विषय करना इति। यह व्याख्यान भाष्यकारको संमत नहीं है। क्योंकि 'एतस्मिन् खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इस मन्त्रमें अव्याकृतरूप मूलप्रकृति अविद्याका अक्षररूप ब्रह्ममें ओतप्रोतभावको कहा है। अतः मूलप्रकृतिरूप अविद्याका आश्रय चिदात्मा ही है। और आश्रय पदकी विषयमें लक्षणा माननेमें कोई मूल है नहीं। अतः भूतयोनिरूप ब्रह्म ही मूलप्रकृतिरूप अव्याकृतका आश्रय है केवल विषय ही नहीं। यही अर्थ यहां भाष्यकारोंको सम्मत है। अन्यथा श्रुतार्थका परित्यागरूप दोष होगा। और मूलप्रकृतिके भेदमें कोई प्रमाण है नहीं। अतः मूलप्रकृतिरूप अविद्या एक है।

शंका। **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'** यह श्रुति 'मायाभिः' इस बहु वचन करके अविद्यामें नानात्वको कहती है अतः अविद्याके भेदमें यह श्रुति प्रमाण है।

समाधान। **'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्'** इत्यादिक अनेक श्रुति अविद्यामें एकत्वको कहती हैं। और एक माननेमें लाघव भी है। अतः लाघव सहकृत 'अजाम्' इत्यादिक श्रुतियोंके बलसे 'इन्द्रो मायाभिः' यह श्रुति बुद्धिके भेद करके अविद्याके भेदको अनुवाद करती है। वस्तुतः अविद्यामें अनेकत्वको नहीं कहती है। इस अर्थको सुरेश्वराचार्यजीने भी कहा है— **'स्वतस्त्वविद्याभेदोऽत्र मनागपि न विद्यते'** अर्थ—यहां स्वभावसे अविद्याका भेद किञ्चित् मात्र भी नहीं है इति। और सांख्य तथा योगके जो आचार्य हैं तथा पुराण इतिहासोंके जो कर्ता हैं सो भी मूलप्रकृतिमें ऐक्यको ही कथन करते हैं।

शंका। यदि अविद्याको एक मानोगे तो एक अविद्योपहित चेतन जीव भी एक ही होगा। और जब ऐसा मानोगे तो 'कोई जीव बद्ध है कोई जीव मुक्त है' यह जो बन्ध मोक्षकी व्यवस्था है सो असङ्गत होगी। तथा अनेक प्राणियोंकी जो श्रवणादिकोंमें प्रवृत्ति है तिसका भी बाध होवेगा।

समाधान। जो अविद्याको नाना मानते हैं तिनोंको भी परिणामी होनेसे अवयवरूप अंशवाली अविद्या माननी पड़ेगी। क्योंकि अंशवाले पदार्थ-का ही परिणाम होता है, निरवयवका नहीं। जब ऐसा मानोगे तब सांश एक ही अविद्या माननी उचित है। क्योंकि अनर्थ स्वरूप जो अपने अपने देहादिक संघात हैं, तिन २ देहादिक संघातरूप करके परिणत जो अनेक अविद्याके अंश हैं; तिन २ अंशो करके उपहित चेतन जीव भी अनेक हैं। इस प्रकार जीवोंकी भेदव्यवस्था बन सकती है। तथा जिसके अन्तः-

करणमें ज्ञान उत्पन्न होगा तिसके अन्तःकरणादिका मूल परिणामी जो अविद्याअंश है तिसका नाशरूप मोक्ष होगा अन्यका नहीं। इस प्रकार एक अविद्या माननेसे भी अनेक अविद्याअंश प्रयुक्त बन्ध मोक्षकी व्यवस्था बन सकती है। इस पूर्वोक्त रीतिसे श्रोता पुरुषको स्वरूपानन्दकी प्राप्तिका, तथा श्रवणादिकोंमें प्रवृत्तिका, तथा विद्वानोंके अनुभवका, तथा जीवन्मुक्तिके प्रतिपादक शास्त्रादिकोंका बाध भी नहीं होता है। और यहां ऐसा जाननेको योग्य है कि—पूर्वोक्त रीतिसे भाष्यकार भगवान्को नानाजीववाद सम्मत है असम्मत नहीं, किन्तु मूलप्रकृतिरूप अविद्यामें नानात्व असम्मत है। यह एकअविद्यावादका अभिप्राय है।

पुनः अक्षररूप अव्याकृत कैसा है कि—सम्पूर्ण विकारोंसे पर अविकाररूप है। तिस अविकाररूप अक्षरसे भिन्नरूप करके यहां विवक्षित परमात्माको 'अक्षरात्परतः परः' यह श्रुति दिखाती है इति!

शंका। यदि प्रधानसे भिन्न ब्रह्मको मानोगे तो "ब्रह्मनिष्ठ भेदका प्रतियोगि जो प्रधान है सो तुम्हारेको भी इष्ट है" ऐसा हमारेको निश्चय होता है। क्योंकि असत् वस्तुमें भेदका प्रतियोगित्व नहीं होता है।

समाधान। यहां जिस वस्तुमें भेदको हम कहते हैं "सो स्वतन्त्र वस्तु स्वरूप कोई प्रधान है तिस सत्य प्रधानसे प्रकृत भूतयोनि भिन्न है" ऐसा हम नहीं अंगीकार करते है। किन्तु यदि अज्ञों करके कल्पित जो प्रधान है तिसको स्वीकार करना होवे तो श्रुतिसे विरोध न करके परतन्त्र अव्याकृत शब्दका वाच्य अज्ञानस्वरूप तथा भूतसूक्ष्मरूप ही स्वीकार करना चाहिये यह हम कहते हैं। यदि वादी ऐसी कल्पना करे तो, यह हम भी अङ्गीकार करते हैं। और इस उक्त अव्याकृतरूप अज्ञानसे 'अक्षरात्परतः परः' इस श्रुतिने ब्रह्ममें भेदको कथन किया है। अतः भूतयोनिरूप परमेश्वर ही उक्त श्रुति व सूत्रमें प्रतिपाद्य है यह सिद्ध हुवा।

और यहां ऐसा जानना कि—**'कार्यात्मना प्रधीयत इति प्रधानम्'** कार्यरूप करके परिणामको जो प्राप्त होवे तिसका नाम प्रधान है। अर्थात् अज्ञानका नाम प्रधान है। तिस अज्ञानसे भिन्न प्रधानमें कोई प्रमाण नहीं है। अतः यहां 'अज्ञान ही भूतयोनि है' ऐसा पूर्वपक्षको दिखाकर खण्डन किया है कि—'अज्ञान ही भूतोंका योनि नहीं है। किन्तु अज्ञानसे पर परमात्मा ही भूतयोनि है। इस प्रकार अज्ञानका खण्डन करके सांख्यकल्पित प्रधानका भी खण्डन हो चुका इति॥ २२॥

और किस हेतुसे परमेश्वर भूतयोनि है? ऐसी शंकाके हुये भूतयोनिमें ईश्वरत्वकी सिद्धिके लिये सूत्रकार कहते हैं:—

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

अर्थ—१ रूपोपन्यासात्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। इस सूत्रमें पूर्वोक्त सूत्रसे 'नेतरौ' इसका अनुषङ्ग करना। पूर्व वाक्यमें श्रुत जो पद हैं तिन पदोंका जो उत्तर वाक्यमें अनुकर्षण अर्थात् लाके जोड़ देना है। इसका नाम अनुषङ्ग है। जायमान विकारात्मक परमेश्वरके रूपोंका वाक्यशेषमें कथन होनेसे भूतयोनि शब्द करके परमेश्वरका ही ग्रहण करना, जीव तथा प्रधानका नहीं इति।

अब प्रथम वृत्तिकारके मतसे सूत्रके अर्थको दिखाते हैं—'अक्षरात्परतः परः' इस मन्त्रसे अनन्तर **एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥** यह मन्त्र है। यहां ऐसा जानना कि—अर्थक्रम करके पाठक्रमका बाध होता है। क्योंकि 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा' 'प्राणस्तेजसि' इत्यादि मन्त्रोंमें प्राणादिकोंका भूतोंमें लयका श्रवण करके प्राणादिकोंमें भौतिकत्वका निश्चय होता है। अतः आकाशादिक भूतोंकी उत्पत्तिसे अनन्तर प्राणादिकोंकी उत्पत्ति कहनी चाहिये। इसलिये इस मन्त्रका अर्थ इस प्रकार करना:—मायाप्रतिबिम्बित ब्रह्मसे शब्द गुणवाला आकाश उत्पन्न होता है। तथा आकाश भावापन्न ब्रह्मसे शब्द स्पर्श गुणवाला वायु उत्पन्न होता है। इसी प्रकार आगे भी जान लेना। तथा वायुसे शब्द स्पर्श रूप गुणवाला ज्योतिरूप अग्नि उत्पन्न होता है। तथा अग्निसे शब्द स्पर्श रूप रस गुणवाला जल उत्पन्न होता है। तथा जलसे शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध गुणवाली तथा विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है। अनन्तर मायामें व सूक्ष्म भूतोंमें प्रतिविम्बित ब्रह्मसे प्राण उत्पन्न होता है, तथा मन, तथा सर्व इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं इति। इस मन्त्र करके प्राणसे आदि लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्वोंकी सृष्टिको कहकर आगे तिस भूतयोनिका ही सर्व विकारात्मक रूपको श्रुति दिखाती है। तहां श्रुतिः—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ अर्थ—जिस ईश्वरका द्युलोकरूप अग्नि शिर है। तथा प्रसिद्ध चन्द्र और सूर्य नेत्र हैं। प्राची आदिक दिशा जिस ईश्वरके श्रोत्र हैं। तथा प्रसिद्ध ऋगादिक जो वेद हैं सो वाणी है। तथा बाह्य भूतात्मक वायु प्राण है। तथा सब जगत् हृदय है अर्थात् अन्तःकरण है। क्योंकि सुषुप्तिमें अन्तःकरणके लय होनेसे सर्व जगत्का लय होता है। जाग्रत् तथा स्वप्नमें उसी अन्तःकरणसे अग्निके विष्फुलिङ्गोंकी तरह बाहर आकर सर्व जगत् प्रतिष्ठित होता है। तथा पृथिवी जिस परमेश्वरका पाद है। ऐसा उक्त प्रकारका शरीरवाला जो यह परमात्मा है सो सर्व प्राणियोंका अन्तर आत्मा है अर्थात् सर्व भूतोंका द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता है इति।

यह पूर्वोक्त रूप, सर्व विकारोंका कारण होनेसे परमात्माका ही उचित है। अल्प शक्तिवाला जीवका नहीं तथा प्रधानका भी नहीं। क्योंकि जीवमें तथा प्रधानमें सर्वान्तरात्मत्वका असम्भव है। इसलिये परमेश्वर ही भूतयोनि है, जीव तथा प्रधान नहीं।

शंका। किस प्रकार तुम जानते हो कि—भूतयोनिके रूपका यह उपन्यास कहिये कथन है।

समाधान! **'प्रकरणात्'** इति भाष्यम्। प्रकरणसे हम जानते हैं सो दिखाते हैं—जैसे उपाध्यायको प्रसङ्गमें प्राप्त करके **'एतस्मादधीष्व एष वेदवेदाङ्गपारगः'** यह वचन उपाध्याय विषयक है। तैसे **'अग्निर्मूर्धा'** इसश्रुतिमें 'एषः' यह जो शब्द है सो प्रसङ्गमें प्राप्त भूतयोनिका अनुकर्षण करता है। अतः भूतयोनिको प्रसङ्गमें प्राप्त करके 'एतस्माज्जायते प्राणः' 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' इत्यादिक जो वचन हैं सो भी भूतयोनिविषयक ही हैं इति।

शंका। अदृश्यत्वादिक गुणवाले भूतयोनिका विग्रहवाला रूप किस प्रकार बन सकता है?

समाधान। जैसे कोई ब्रह्मवित् पुरुष अपना सर्वात्मत्वको प्रकट करनेके लिये 'अहमन्नमहमन्नादः' इत्यादिक सामको गायन करता है, आत्मामें अन्नत्वादिक धर्मोंकी विवक्षा करके नहीं। क्योंकि अन्नत्वादिकोंकी विवक्षा निष्फल है। तैसे 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादिक मन्त्र भी भूतयोनिरूप परमात्मामें सर्वात्मत्वकी विवक्षा करके परमेश्वरके रूपको कहते हैं। विग्रहवत्त्वकी विवक्षा करके नहीं। अतः कोई दोष नहीं।

अब इस वृत्तिकारके व्याख्यानको खण्डन करते हैं:—**'अन्ये पुनर्मन्यन्ते'** इत्यादि भाष्यम्। सिद्धान्ती ऐसा मानता है कि—भूतयोनिके रूपका यह उपन्यास नहीं बन सकता है। क्योंकि **'एतस्माज्जायते प्राणः'** इत्यादिक जो प्रथम मन्त्र है सो प्राणसे आदि लेके पृथिवी पर्यन्त तत्त्वसमूहको जायमानरूप करके कथन करता है। अतः अगले मन्त्रमें जो 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' यह वाक्य है तिसका 'एतस्माज्जायते' इस श्रुतिके साथ अन्वय करना। इस कहनेसे यह अर्थ सिद्ध हुवा—इस भूतयोनिरूप परमात्मासे 'सर्वभूतान्तरात्मा' कहिये हिरण्यगर्भरूप सूत्रात्मा उत्पन्न होता है। और आगे भी **'तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः'**। अर्थ—जिस स्वर्गरूप द्युलोक अग्निका सूर्य 'समित्' कहिये काष्ठकी तरह काष्ठ व प्रदीप्तिकर है। सो द्युलोक अग्नि भी तिस भूतयोनिरूप परमात्मासे ही उत्पन्न होता है इति। इस मन्त्रसे लेकर **'अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च'**। अर्थ—इस भूतयोनिसे ही सम्पूर्ण औषधि तथा षट् प्रकारका रस उत्पन्न होता है इति। इस मन्त्र पर्यन्त जो वाक्य हैं सो सर्व वाक्य जायमान रूप करके ही पदार्थोंको निर्देश करते हैं। अर्थात् 'एतस्माज्जायते प्राणः' इत्यादिक जो यह पूर्व मन्त्र है सो भूतयोनिसे सृष्टिको कहता है। तथा 'तस्मादग्निः' इत्यादिक जो उत्तर मन्त्र है सो भी भूतयोनिसे ही सृष्टिको कहता है। और मध्यमें जो 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादिक मन्त्र है सो अकस्मात् किस प्रकार भूतयोनिके रूपको कहेगा? अर्थात् नहीं कहेगा।

अतः मध्य मन्त्र भी सृष्टिको ही कहेगा भूतयोनिके रूपको नहीं। और वादीने जो कहा था कि भूतयोनिमें सर्वात्मत्वको 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादिक मन्त्र कहता है। सो भी वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि सृष्टिको समाप्त करके आगे सर्वात्मत्वको श्रुति कहेगी। तहां श्रुतिः—'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य'। अर्थ—हे सोम्य! हे शौनक! परमात्मारूप पुरुषसे उत्पन्न हुवा जो यह सम्पूर्ण विश्व है सो पुरुषस्वरूप ही है पुरुषसे भिन्न नहीं। इस कहनेसे जो शौनक ऋषिने अङ्गिरा ऋषिके प्रति पूछा था—'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति' इसका उत्तर हो चुका। क्योंकि कार्यको कारणसे अभिन्न होनेसे सर्वका कारण परमात्माके विज्ञात हुये सर्व विज्ञात होता है। अर्थात् फल व साधनके सहित अग्निहोत्रादिरूप कर्म, तथा फल व साधनके सहित उपासनारूप तप, तथा कर्मतपका प्रकाशक वेद, यह सर्व स्वरूप जो विश्व है सो 'परामृतम्' कहिये अमृतरूप परब्रह्मका कार्य होनेसे परब्रह्म स्वरूप ही है। और सर्व प्राणियोंके हृदयरूपी गुहामें स्थित जो सर्वात्मक ब्रह्म है तिस ब्रह्मको जो अधिकारी पुरुष अपने आत्मारूप करके जानता है सो विद्वान् 'अज्ञोऽहम्' इस प्रकारका जो अज्ञानके साथ तादात्म्यरूप अविद्याग्रन्थि है तिसको नाश करता है इति।

शंका। हिरण्यगर्भके जन्मका प्रतिपादन अन्यत्र कहीं देखनेमें आता नहीं। यहां किस प्रकार करते हो?

समाधान। त्रैलोक्य शरीरवाले प्रजापतिके जन्मादिक श्रुति स्मृति विषे देखनेमें आते हैं—हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ तथा स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत॥ अर्थ—सृष्टिके आदिकालमें जो हिरण्यगर्भ 'समवर्तत' कहिये उत्पन्न हुवा और ईश्वरके प्रसादसे भूतसमूहका पतिरूप होता भया, सो सूत्रात्मा स्वर्गलोक तथा इस पृथिवीको अर्थात् सम्पूर्ण स्थूल प्रपञ्चको धारण करता भया। ऐसा जो हिरण्यगर्भरूप एक देव है तिस देवकी मैं हविष् करके परिचर्याको करता हूं। इस अर्थमें 'कतम एको देव इति प्राण इति' यह श्रुति प्रमाण है इति। अथवा 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' इस श्रुतिके अनुसार ऐसा अर्थ करना—जिस परमात्मासे प्रजापति सूत्रात्मा उत्पन्न होता भया तिस परमात्माकी मैं हविष् करके परिचर्याको करता हूं। पूर्व श्रुतिमें 'कस्मै' के स्थानमें 'एकस्मै' जानना, क्योंकि एकारका लोप हो गया है। अन्यथा कको सर्वनाम न होनेसे कस्मै रूप न बन सकेगा। तथा सो हिरण्यगर्भ ही सृष्टिके आदिकालमें उत्पन्न होनेसे प्रथम शरीरी कहा जाता है। तथा सोई पुरुष कहा जाता है। तथा सोई सम्पूर्ण भूतोंका आदि कर्ता कहा जाता है इति।

शंका। इस व्याख्यानमें हिरण्यगर्भमें 'एष सर्वभूतान्तरात्मा' यह सर्वभूतान्तरात्मत्व किस प्रकार बनेगा?

समाधान। पूर्व कल्पमें प्रकृष्ट उपासना तथा कर्म दोनोंके समुच्चयका अनुष्ठानसे इस कल्पके आदिमें सम्पूर्ण प्राणियोंके जो व्यष्टि लिङ्ग शरीर हैं

तिनोंमें व्यापक एक सत्तरह तत्त्वोंका समष्टि लिङ्ग शरीर उत्पन्न होता है। तिस समष्टि लिङ्ग शरीररूप सूत्रात्मामें सर्वान्तरात्मत्व युक्त ही है। क्योंकि सूत्रात्मा सर्व भूतोंके अन्तर स्थिर रह कर सम्पूर्ण प्राणादिक व्यष्टि सूक्ष्म शरीरोंका अधिष्ठाता है। और अधिष्ठाता समष्टि लिङ्ग शरीरका तथा अधिष्ठेय व्यष्टि लिङ्ग शरीरका अभेद है इति।

शंका। हिरण्यगर्भसे लेकर सम्पूर्ण जगत्की सृष्टिको ही पूर्वोक्त सर्व मन्त्र जब प्रतिपादन करते हैं। तब तुम्हारे मतसे 'रूपोपन्यासाच्च' इस सूत्रका क्या अर्थ होगा?

समाधान। हमारे पक्षमें 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य जो परमेश्वरके रूपका उपन्यास है; सो परमात्माकी प्रतिपत्तिका हेतु है। अतः भूतयोनिरूप ज्ञेय ब्रह्ममें ही पूर्वोक्त वाक्यका समन्वय जानना इति ॥ २३ ॥

इत्यदृश्यत्वाधिकरणम् ॥

पूर्वोक्त रूपके उपन्यासके प्रसङ्गसे त्रैलोक्य शरीरवाला जो वैश्वानर है सो भी परमात्मा ही है इस अर्थको अब सूत्रकार दिखाते हैंः—

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४ ॥

अर्थ—१ वैश्वानरः, २ साधारणशब्दविशेषात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। वैश्वानर शब्द करके भी परमात्माका ही ग्रहण करना, जाठर अग्नि आदिकोंका नहीं। यद्यपि 'वैश्वानर' यह शब्द जाठराग्नि, भूताग्नि व देवताग्निमें साधारण है। तथा 'आत्मा' यह शब्द भी जीव व ब्रह्ममें साधारण है। तथापि इन साधारण दोनों शब्दोंका 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादिक विशेषशब्द है। अर्थात् 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादिक विशेषशब्दों करके प्रतिपाद्य जो त्रैलोक्य शरीरवाला वैश्वानर है सो परमात्मा ही है। जाठराग्नि आदिक नहीं। क्योंकि जाठराग्नि आदिकोंका त्रैलोक्य शरीर नहीं बन सकता है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—छान्दोग्यमें पञ्चम अध्यायके अग्यारवां खण्डसे लेकर लिखा है कि—प्राचीनशाल तथा सत्ययज्ञ तथा इन्द्रद्युम्न तथा जन तथा बुडिल, यह पांचों ऋषि मिलकर विचार करते भये—'को न आत्मा किं ब्रह्मेति'। अर्थ—हमारे लोगोंका आत्मा कौन है? और ब्रह्म कौन है? अर्थात् ब्रह्मसे अभिन्न प्रत्यग् आत्मा कौन है इति। जब परस्पर विचार करके निश्चय नहीं हुवा तब सर्व मिलकर अरुण ऋषिके पुत्र उद्दालक ऋषिके पास प्राप्त होते भये। परन्तु उद्दालक ऋषि भी यथार्थ नहीं जानते थे। अतः उद्दालक ऋषि मनमें विचार करने लगे कि—ये पांचो ऋषि बड़ी २ शालावाले हैं, और बड़े २ विद्वान् हैं। इनके प्रश्नोंका यथावत् उत्तर देना मेरी शक्तिके बाहर है। इसलिये इन सर्वको लेकर मैं अश्वपति राजाके पास चलूं। ऐसा

विचार कर उद्दालकने तिन ऋषियोंसे कहा—हे भगवन्तः! इस समयमें यह राजा कैकेय इस वैश्वानर आत्माको जानता है। इसलिये हम सर्व मिलकर राजाके पास चलें। इसके बाद् उद्दालकके सहित सर्व ऋषि मिलकर केकय राजाका पुत्र जो कैकेय राजा है जिसका नाम अश्वपति भी है तिस राजाके पास गये। राजाने यथायोग्य सर्वकी पूजा कराई और भोजन विश्रामका सुप्रबन्ध करा दिया। प्रातःकालमें राजाने ऋषियोंके पास विनयपूर्वक जाकर कुछ धन समर्पण करनेका विचार प्रकट किया। ऋषियोंने लेनेसे इन्कार किया। तब राजा कहने लगे—**'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो'** इत्यादि। अर्थात् मेरा धन राजधन होनेपर भी अशुद्ध नहीं है। क्योंकि मेरे राज्यमें चोर नहीं हैं। और कृपण भी नहीं हैं। मद्य पीनेवाले भी नहीं हैं। विधिवत् अग्निका आधान करके हवन न करनेवाले भी नहीं हैं। और अविद्वान् भी नहीं हैं। कोई पुरुष व्यभिचारी भी नहीं हैं। और व्यभिचारिणी स्त्री कहांसे होगी। हे भगवन्तः! मैं यज्ञ करनेवाला हूं जितना २ धन एक २ ऋत्विक्को दूंगा उतना २ ही आपमेंसे प्रत्येकको दूंगा। आप लोग मेरे यहां सुखसे निवास करें। ऋषि बोले—हे राजन्! जिस पुरुषको जिस अर्थकी इच्छा हो सो ही अर्थ दाताने अधिकारीको देना चाहिये। हम धनार्थी नहीं हैं। किन्तु हम वैश्वानर आत्माको जाननेके निमित्त आपके पास आये हैं। अतः आत्मविद्या ही हमको देनी चाहिये। **आत्मानमेवेमं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति।** अर्थ—हे राजन्! जिस वैश्वानर स्वरूप आत्माको आप इस समय स्मरण करते हैं तिसको ही हम लोगोंके लिये कथन करें इति।

राजा ऋषियोंसे बोले—**'प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मि'**। अर्थ—प्रातःकालमें इसका उत्तर मैं आपसे कहुंगा इति। इसके दूसरे दिन प्रातःकाल सर्व ऋषि विधिवत् समित्पाणि होकर राजाके पास पहुंचे। तब तिन सर्व ऋषियोंको, उपनयन संस्कारके विना ही उपदेश करनेके लिये अपने सन्मुख बैठाकर उपमन्युके पुत्र प्राचीनशालकी तरफ दृष्टि करके राजा बोले—हे औपमन्यव! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो? औपमन्यव—हे भगवन्! हे राजन्! द्युलोककी उपासना करता हूं। राजा—जिसकी तुम उपासना करते हो इस द्युलोक रूप वैश्वानर आत्माका नाम सुतेजा है। अर्थात् सुतेजस्त्वगुणविशिष्ट यह आत्मा वैश्वानर है। इसी कारणसे तुम्हारे वंशके यज्ञोंमें सोमरसका बाहुल्य है। अर्थात् तुम कुलीन हो कर्मठ हो। उत्तम अन्नको खाते हो, और प्रियको देखते हो। जो इस सुतेजस्त्वगुणविशिष्ट वैश्वानरकी उपासना करता है सो उत्तम अन्नको खाता है और प्रियको देखता है। इसके वंशमें ब्रह्मवर्चस अर्थात् ब्रह्मतेज होता है। परन्तु यह द्युलोक वैश्वानरका मूर्धा है वैश्वानर नहीं। यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो अवैश्वानरको वैश्वानररूप करके चिन्तनरूप अपराधसे तुम्हारा शिर गिर जाता।

इसके बाद सत्ययज्ञकी तरफ देखकर राजा बोले—हे प्राचीनयोग्य! तुम

किस आत्माकी उपासना करते हो ? सत्ययज्ञ-हे भगवन् ! हे राजन् ! आदित्यकी उपासना करता हूं । राजा-जिसकी तुम उपासना करते हो इस आदित्यरूप वैश्वानर आत्माका नाम विश्वरूप है । इसीसे तुम्हारे कुलमें भोगके साधन अश्वतरी (खच्चर) रथ दास दासी निष्क (हार) आदिक अनेक प्रकारके हैं । उत्तम अन्नको खाते हो, प्रियको देखते हो । जो इस विश्वरूपत्वविशिष्ट वैश्वानरकी उपासना करता है सो उत्तम अन्नको खाता है और प्रियको देखता है । और इसके कुलमें ब्रह्मवर्चस होता है । परन्तु यह आदित्य वैश्वानर आत्माका चक्षु है वैश्वानर नहीं । यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो इस अपराधसे तुम अन्धे हो जाते ।

इसके बाद इन्द्रद्युम्नकी तरफ देखकर राजा बोले-हे वैयाघ्रपद्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ? इन्द्रद्युम्न-हे भगवन् ! हे राजन् ! वायुकी उपासना करता हूं । राजा-जिसकी तुम उपासना करते हो इस वायुरूप वैश्वानर आत्माका नाम पृथग्वर्त्मा है । इसीसे तुम्हारे लिये पृथक् २ बलि (भेट) व रथश्रेणी आती हैं । और उत्तम अन्नको खाते हो, प्रियको देखते हो । जो इस पृथग्वर्त्मत्व गुणविशिष्ट वैश्वानरकी उपासना करता है सो उत्तम अन्नको खाता है, प्रियको देखता है। इसके वंशमें ब्रह्मवर्चस होता है । परन्तु यह वायु वैश्वानर आत्माका प्राण है वैश्वानर नहीं । यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो इस अपराधसे तुम्हारा प्राण निकल जाता ।

इसके बाद राजा जनकी तरफ देखकर बोले-हे जन ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ? जन-हे भगवन् ! हे राजन् ! आकाशकी उपासना करता हूं । राजा-जिसकी तुम उपासना करते हो इस आकाशरूप वैश्वानर आत्माका नाम बहुल है । इसीसे तुम प्रजा करके व धन करके बहुल हो । उत्तम अन्नको खाते हो, प्रियको देखते हो । जो इस बहुलत्वगुणविशिष्ट वैश्वानरकी उपासना करता है सो उत्तम अन्नको खाता है, और प्रियको देखता है । और इसके वंशमें ब्रह्मतेज होता है । परन्तु यह आकाश वैश्वानर आत्माका सन्देह है अर्थात् देहका मध्य भाग है, वैश्वानर नहीं । यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो इस अपराधसे तुम्हारा देहका मध्य भाग टूट जाता ।

इसके बाद राजा बुडिलकी तरफ देखकर बोले-हे वैयाघ्रपद्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो । बुडिल-हे भगवन् ! हे राजन् ! आप (जल) की उपासना करता हूं । राजा-जिसकी तुम उपासना करते हो इस जलरूप वैश्वानर आत्माका नाम रयि (धन) है । इसीसे तुम धनवान् पुष्टिमान् हो । उत्तम अन्नको खाते हो, प्रियको देखते हो । जो इस रयित्वगुणविशिष्ट वैश्वानरकी उपासना करता है सो उत्तम अन्नको खाता है, और प्रियको देखता है । और इसके वंशमें ब्रह्मवर्चस होता है । परन्तु यह जल वैश्वानर आत्माकी बस्ति (मूत्रस्थान) है, वैश्वानर नहीं । यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो इस अपराधसे तुम्हारी बस्ति विदीर्ण हो जाती ।

इसके बाद राजा उद्दालककी तरफ देखकर बोले-हे गौतम ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो। उद्दालक-हे भगवन् ! हे राजन् ! पृथिवी की उपासना करता हूं। राजा-हे उद्दालक ! जिसकी तुम उपासना करते हो इस पृथिवीरूप वैश्वानर आत्माका नाम प्रतिष्ठा है। इसीसे तुम प्रतिष्ठित हो, प्रजा और पशुवों करके युक्त हो। उत्तम अन्नको खाते हो, और प्रियको देखते हो। जो इस प्रतिष्ठात्वगुणविशिष्ट वैश्वानरकी उपासना करता है सो उत्तम अन्नको खाता है, और प्रियको देखता है। और इसके वंशमें ब्रह्मवर्चस होता है। परन्तु यह पृथिवी वैश्वानर आत्माका पाद है, वैश्वानर नहीं। यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो इस अपराधसे तुम्हारे पैर शिथिल अर्थात् शक्तिहीन हो जाते। अच्छा किया, आप जो हमारे पास आये।

इसके बाद राजा सर्व ऋषियोंको लक्ष्य करके सबकी तरफ देखकर बोले-आप लोग इस अपृथक् रूप अर्थात् सर्वात्मा समष्टिरूप एक वैश्वानरके मूर्धादि अङ्गोंको वैश्वानर बुद्धिसे पृथक्की तरह उपासना करते हुये अन्नको भक्षण करते हो। अर्थात् आप लोगोंका अन्नभक्षण करना व्यर्थ है। जैसे बहुतसे जन्मके अन्धे-हस्तीको देखनेमें उत्सुक हुये एक २ करके समीपमें स्थित हाथीके पास जाकर, किसीने हाथीके कानको टटोल कर सूपके सदृश हाथी समझा। किसीने पैरको टटोल कर स्तम्भके समान हाथी समझा। किसीने पूछको टटोल कर मुसलके सदृश समझा। इसी प्रकार तिस तिस अङ्गको हाथी समझकर पुन आपसमें कलह करने लगे। यही कथा आप लोगोंमें चरितार्थ हो रही है।

इस प्रकार एक एक अङ्गकी उपासनाकी निन्दा करके, तथा द्युलोकादिकोंमें वैश्वानरके मूर्धाभावादिकोंका उपदेश करके, राजा सर्वाङ्गविशिष्ट वैश्वानरकी उपासनारूप प्रधान विद्याको कहते भयेः—'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति। तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः।' इत्यादिक श्रुति इस अधिकरण सूत्रका विषय है।

अर्थ—जो अधिकारी पुरुष 'एतं' कहिये सर्वात्मक। 'एवं' कहिये यथोक्त द्युमूर्धादि विशिष्ट। 'प्रादेशमात्रम्' कहिये प्रादेश परिमाणवाला। चिबुकसे मूर्धा पर्यन्त। अर्थात् अङ्गुष्ठ और तर्जनीको फैलानेसे जो मध्यवर्ति परिमाण है तिसका नाम प्रादेश है। अथवा 'प्रादेश' कहिये मूर्धारूप द्युलोकसे लेकर पादरूप पृथिवी पर्यन्त प्रदेशों करके, समष्टिरूपसे अङ्गित्वेन जो जाना जावे तिसका नाम प्रादेशमात्र है। अथवा प्रादेशमात्र ज्योतिःस्वरूप इस आत्माका हृदयमें उपासकको प्रत्यक्ष होता है। इसलिये वैश्वानररूप ब्रह्मका नाम प्रादेश

मात्र है। 'अभिविमानम्' कहिये अपरोक्षरूप करके विश्वको जाननेवाला है। अथवा 'अहं' इस प्रकार प्रत्यग् रूप करके जो जाना जावे तिसका नाम अभिविमान है। अथवा अभितः सर्वतः सर्व रूपसे द्युलोकादि विशिष्ट रूप करके जो जाना जावे तिसका नाम अभिविमान है। 'आत्मानम्' कहिये प्रत्यग् स्वरूप है। 'वैश्वानरम्' कहिये सर्वात्मक होनेसे विश्व स्वरूप नर वैश्वानर आत्माका नाम है। अथवा सर्वका कारण होनेसे विश्वका नर वैश्वानर परमात्माका नाम है। अथवा सर्वका ईश्वर होनेसे विश्व नियम्य है जिसका ऐसा जो नर तिसका नाम विश्वानर है। और जो विश्वानर होवे तिसीका नाम वैश्वानर है। अर्थात् 'को न आत्मा, किं ब्रह्म' इस उपक्रमके अनुसार-इस प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मरूप वैश्वानरकी जो उपासना करता है सो उपासक सर्वात्मभावको प्राप्त हुवा द्यु आदिक सर्व लोकोंमें तथा सर्व भूतोंमें कहिये चराचररूप शरीरोंमें तथा सर्व जीवोंमें अन्नको भक्षण करता है। अर्थात् सर्व लोकादिकोंके आश्रित जो फल है तिस फलको प्राप्त होता है। और तिस इस वैश्वानर आत्माका जो सुतेजस्त्वगुणवाला अर्थात् सुन्दर कान्तिवाला द्युलोक है सो मूर्धा है। तथा विश्वरूपत्वगुणवाला जो सूर्य है सो नेत्र है। तथा पृथग्वर्त्मत्वगुणवाला अर्थात् नाना प्रकारका गमन स्वभाववाला जो वायु है सो प्राण है। तथा बहुलत्वरूप व्यापित्वगुणवाला जो आकाश है सो 'संदेहो' कहिये शरीरका मध्य भाग है। तथा रयित्वरूप धनत्व गुणवाले जो आप हैं सो मूत्रस्थानरूप बस्ति हैं। तथा प्रतिष्ठात्व गुणवाली जो पृथिवी है सो वैश्वानरका पाद है। अब वैश्वानरमें होमका आधारत्वको दिखाते हैं:—उर जो है सो वेदि है। तथा लोम जो हैं सो बर्हि हैं। तथा हृदय जो है सो गार्हपत्य अग्नि है। तथा मन जो है सो अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) है। तथा मुख जो है सो आहवनीय अग्नि है। इस प्रकार चिन्तन करें इति।

अब यहां संशयको दिखाते हैं:-वैश्वानर शब्द करके क्या जाठर अग्निका ग्रहण करना। अथवा भूताग्निका ग्रहण करना। अथवा देवता अग्निका ग्रहण करना। अथवा शारीरका ग्रहण करना। अथवा परमेश्वरका ग्रहण करना? 'यहां संशयका कारण क्या है' ऐसी जिज्ञासाके हुये-अब इस संशयके कारणको दिखाते हैं:-विषयवाक्यमें वैश्वानर शब्द है तथा आत्मा शब्द है। तहां वैश्वानर शब्द जाठराग्नि, भूताग्नि, देवताग्नि इन तीनोंमें साधारण है। तथा आत्मा शब्द जीव और परमात्मामें साधारण है। अतः कौन ग्रहण करनेको योग्य है, कौन त्याग करनेको योग्य है, इस प्रकारका यहां संशय होता है।

वस्तुतः यहां क्या प्राप्त हुवा ऐसी जिज्ञासाके हुये-

अथ पूर्वपक्ष। 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः'। इस अधिकरणसूत्रका 'यत्तदद्रेश्यम्' यह जो उपक्रममें स्थित विषयवाक्य है, इस करके प्रतिपाद्य अदृश्यत्वादिक साधारण धर्मोंमें, जैसे 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस वाक्यशेष करके प्रतिपाद्य सर्वज्ञत्वादिक लिङ्गों करके ब्रह्मनिष्ठत्वको कहा है। तैसे ही विषयवाक्यके उपक्रममें स्थित जो साधारण वैश्वानर शब्द है, इसमें भी वाक्यशेष करके प्रतिपाद्य होमाधारत्वरूप लिङ्ग करके जाठराग्निनिष्ठत्व है। अर्थात् जाठराग्निका प्रतिपादक है ऐसा निश्चय होता है। अतः वैश्वानर

शब्द् करके जाठराग्निका ही ग्रहण करना। क्योंकि वैश्वानर शब्दका प्रयोग विशेष करके जाठराग्नि विषे कहीं २ देखनेमें आता है। तहां बृहदारण्यक श्रुति:— **'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते'** अर्थ—जो यह जाठररूप अग्नि है सो वैश्वानर है। तथा जो यह वैश्वानर है सो पुरुषाकार देहके अन्तर जाठराग्निरूप है। जिससे यह पुरुष करके भोजन किया हुवा अन्न परिपक्व होता है इति। और **अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥'** इस गीतास्मृतिमें भी जाठराग्निविषयक ही वैश्वानर शब्द देखनेमें आता है। इत्यादि।

अब दूसरे पक्षको पूर्वपक्षी कहता है:—**'अग्निमात्रं वा स्यात्'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—अथवा वैश्वानर शब्द करके भूताग्निमात्रका ही ग्रहण करना, क्योंकि भूताग्निमें भी वैश्वानर शब्दका सामान्यसे प्रयोग देखनेमें आता है इति। तहां श्रुति:— **'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमन्हामकृण्वन्'** इत्यादि ऋक्। अर्थ—विश्वरूप भुवनके वास्ते देवता वैश्वानर अग्निस्वरूप दिवसका चिह्न सूर्यको करते भये, क्योंकि सूर्यके उदय हुये ही दिन व्यवहार होता है इति। इत्यादि

अब तीसरे पक्षको वादी कहता है:-अथवा वैश्वानर शब्द करके ऐश्वर्यादि सम्पन्न अग्नि देवताका ही ग्रहण करना। क्योंकि अग्नि शरीरवाली देवतामें भी वैश्वानर शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है। तहां श्रुति:— **'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः'** इत्यादि ऋक्। अर्थ—जिस वास्ते वैश्वानर भुवनको 'कं' कहिये सुख देनेवाला राजा है। और 'अभिश्रीः' कहिये भली प्रकारका ऐश्वर्यवाला ईश्वररूप है। अतः तिस वैश्वानरकी सुमतिमें हम लोग होवें अर्थात् तिस वैश्वानरकी सुमतिके पात्र हम होवें इति। इत्यादिक श्रुतियोंका ऐश्वर्ययुक्त देवतामें ही सम्भव है।

अब पूर्वोक्त तीनों पक्षोंमें अरुचिको दिखाते हुये पक्षान्तरको पूर्वपक्षी कहता है— **'अथात्मशब्दसामानाधिकरण्यात्'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् पूर्व विषय वाक्यमें 'आत्मानं वैश्वानरमुपास्ते' ऐसा कहा है। यहां 'आत्म' शब्दका सामानाधिकरण्य वैश्वानर शब्दमें है। अतः वैश्वानर शब्द करके जाठराग्नि आदिकोंका ग्रहण नहीं बन सकता है। क्योंकि विषयवाक्यमें वैश्वानर शब्दसे भिन्न जाठराग्नि आदिकोंका वाचक कोई शब्द है नहीं, जिस शब्दका सामानाधिकरण्य वैश्वानर शब्दमें कहें, और तिस सामानाधिकरण्यके बलसे वैश्वानर शब्द करके जाठराग्नि आदिकोंका ग्रहण होवे। और **'को न आत्मा किं ब्रह्म'** इस उपक्रमवाक्यमें भी केवल आत्मा शब्दका ही प्रयोग किया है। इस लिये भी वैश्वानर शब्द करके जाठराग्नि आदिकोंका स्वीकार नहीं कर सकते हैं। तथाच आत्मा शब्दके बलसे 'आत्मा वैश्वानरः' इस प्रकार वैश्वानर

शब्दको परिणत करना चाहिये अर्थात् जाठरादि अग्नियोंसे अन्य अर्थका बोधक वैश्वानर शब्दको स्वीकार करना चाहिये ऐसा यद्यपि कह सकते हैं। तथापि यहां आत्माका भोक्तृत्वरूप करके ही वैश्वानरके साथ सम्बन्ध होनेसे आत्म शब्द करके जीवका ही ग्रहण होगा, परमात्माका नहीं। और विषयवाक्यमें जो 'प्रादेशमात्रम्' यह विशेषण कहा है सो भी उपाधि करके परिच्छिन्न जीवात्मामें ही बन सकता है। अतः वैश्वानर ईश्वर नहीं है किन्तु जीव ही है इति।

अथ **सिद्धान्तपक्ष*** । इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहते हैं:—**'वैश्वानरः परमात्मा भवितुमर्हतीति'** इति भाष्यम्। अर्थात् वैश्वानर जो है सो परमात्मा ही होनेको योग्य है। अर्थात् वैश्वानर शब्द करके परमात्माका ही ग्रहण करना। क्योंकि 'साधारणशब्दविशेषात्' यद्यपि आत्म शब्द तथा वैश्वानर शब्द ये दोनों शब्द साधारण हैं। अर्थात् आत्मशब्द जीव तथा परमात्मामें साधारण है, तथा वैश्वानर शब्द जाठराग्नि, भूताग्नि, व देवताग्निमें साधारण है। तथापि इन दोनों शब्दोंमें, 'विशेषात्' कहिये विशेष दीखता है! अर्थात् विषयवाक्यमें प्रथम श्रुत जो मुख्य त्रैलोक्य शरीररूप विशेष लिङ्ग है तिस लिङ्ग करके इन दोनों शब्दोंको परमेश्वरपरत्व ही अङ्गीकार करना युक्त है। तहां श्रुतिः—**'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा'** इत्यादिक। और विषयवाक्यके अन्तमें श्रुतिकल्पित होमाधारत्वरूप लिङ्ग करके आत्मशब्द तथा वैश्वानर शब्दमें जाठराग्निपरत्वको अङ्गीकार करना युक्त नहीं।

शंका। निर्विशेष परमात्मामें किस प्रकार त्रैलोक्यादि विशेष बनेगा?

समाधान। 'अत्र हि' इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् द्युमूर्धत्वादिकों करके विशिष्ट जो त्रैलोक्यरूप करके स्थित परमेश्वर है सोई यहां उपासनाके लिये प्रत्यगात्मा रूप करके उपन्यस्त है जाठरादिक नहीं ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि परमात्मा सर्वका कारण है। और कार्यगत सम्पूर्ण अवस्थावों करके कारणको अवस्थावाला होनेसे विश्वका उपादान कारणरूप परमात्माके द्युलोकादिरूप अवयवविशेष भी बन सकते हैं। और 'स सर्वेषु लोकेषु' इत्यादि छान्दोग्य श्रुतिमें जो कहा है कि—'प्रत्यगात्मारूप करके वैश्वानरके उपासक पुरुषको सर्वलोक व सर्वभूतादिकोंके आश्रित सम्पूर्ण फलोंकी प्राप्ति होती है' सो कहना भी परम कारण परमात्माके ग्रहण करनेसे ही समीचीन होगा। और जैसे अग्निमें प्रक्षिप्त इषीकाकी रूई शीघ्र ही दग्ध हो जाती है। तैसे ही वैश्वानरको अपने प्रत्यग् आत्मारूप करके जाननेवाले पुरुषके भी सम्पूर्ण पाप दग्ध हो जाते हैं। वैश्वानर वेत्ताके यह जो सर्वपापोंके प्रदाहका श्रवण है सो भी ब्रह्मके ग्रहणसे ही समञ्जस होगा। और 'को न आत्मा किं ब्रह्म' यहां आत्मा, तथा ब्रह्म

*यहां पूर्वपक्षमें जाठर अग्नि आदिकी उपासना फल है। सिद्धान्तमें ब्रह्मकी उपासना फल है।

शब्द करके जो उपक्रम किया है यह उपक्रम भी ब्रह्मात्माके ग्रहणसे ही समञ्जस होगा। इस पूर्वोक्त रीतिसे क्वचित् अन्यके बोधक जो ये लिङ्ग हैं सो भी परमेश्वरको ही बोधन करते हैं। अतः वैश्वानर शब्द करके परमेश्वर ही ग्रहण करनेको योग्य है, जाठराग्नि आदिक नहीं इति ॥ २४ ॥

और स्मृति करके भी श्रुतिका अर्थ निर्णय करनेको शक्य है। इस अर्थको अब सूत्रकार दिखाते हैं—

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

अर्थ-१ स्मर्यमाणम्, २ अनुमानम्, ३ स्यात्, ४ इति। इस सूत्रमें चार पद हैं। इस हेतुसे भी प्रसङ्गमें परमात्मा ही वैश्वानर है। क्योंकि स्मृतिमें परमेश्वरका ही अग्नि मुख है, द्युमूर्धा है, इस प्रकार त्रैलोक्यात्मक रूपका स्मरण होता है इति। तहां स्मृतिः—**यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा, खं नाभिश्चरणौ चितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे, तस्मै लोकात्मने नमः॥** अर्थ स्पष्ट है। इत्यादिक स्मृतियों करके स्मर्यमाण जो परमेश्वरका रूप है सो इन स्मृतियोंकी मूलभूत श्रुतिको बोधन करता हुवा श्रुतिस्थ वैश्वानर शब्दमें परमेश्वर-परत्वको बोधन करता है। और सूत्रमें जो 'इति' शब्द है तिसका अर्थ हेतु है। इस सूत्रसे यह अनुमान सिद्ध हुवा—**'वैश्वानरः, परमात्मा भवितुमर्हति, स्मर्यमाणत्रैलोक्यात्मकरूपवत्त्वात्। यन्नैवं तन्नैवं यथा जाठराग्न्यादिकम् ॥'** अर्थ—जैसे जाठर अग्नि आदिक दृष्टान्तमें परमात्मत्वरूप साध्य नहीं है। अतः स्मर्यमाण त्रैलोक्यात्मक रूप हेतु भी नहीं है, और वैश्वानररूप पक्षमें स्मर्यमाण त्रैलोक्यात्मक रूप हेतु है। अतः परमात्मत्वरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। इस स्मर्यमाण त्रैलोक्यात्मक रूप व्यतिरेकि अनुमान करके वैश्वानरमें परमात्मत्वकी सिद्धि हुई। अर्थात 'वैश्वानर परमात्मा स्वरूप है' इस अर्थमें स्मर्यमाण जो विराट् रूप है सोई अनुमानरूप हेतु है इति।

शंका। 'तस्मै लोकात्मने नमः' यह जो स्तुति है सो असत् द्युमूर्धादिरूप करके भी बन सकती है। अतः मूल श्रुतिकी अपेक्षा क्यों करनी? अर्थात् नहीं करनी चाहिये।

समाधान। यद्यपि यह स्तुति है; तथापि वेदवाक्यसे विना ऐसे द्युमूर्धादिक रूप करके सम्यक् स्तुति मनुष्य मात्रसे नहीं हो सकती है। अतः श्रुतिकी अपेक्षा आवश्यक है। भाव यह है कि-द्युमूर्धादिक सत् रूप करके स्तुतिका सम्भव होनेसे असत् रूपका आरोप नहीं बन सकता है इति। अब त्रैलोक्य देहवाले वैश्वानरनिष्ठ ईश्वरतामें दूसरी स्मृतिको कहते हैं—**द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति, खं वै नाभिं चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे। दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं**

च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता ॥ अर्थ—जिस वैश्वानरके द्यु आदिकरूप मूर्धादिकोंको विप्र कहते हैं; सो अचिन्त्य आत्मा सर्व भूतोंका नियन्ता वैश्वानर है। पदोंका अर्थ स्पष्ट है इति। अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ यह मुण्डकश्रुति भी वैश्वानरके स्वरूपको वर्णन करती है ॥ २५ ॥

अब वैश्वानर शब्दादिकोंकी गतिको कहनेके लिये प्रथम पूर्वोक्त सिद्धान्तका प्रकारान्तरसे आक्षेप करके पुनः समाधानको सूत्रकार दिखाते हैं—

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात् पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

अर्थ—१ शब्दादिभ्यः, २ अन्तःप्रतिष्ठानात्, ३ च, ४ न, ५ इति, ६ चेत्, ७ न, ८ तथा, ९ दृष्ट्युपदेशात्, १० असम्भवात्, ११ पुरुषम्, १२ अपि, १३ च, १४ एनम्, १५ अधीयते। इस सूत्रमें पन्द्रह पद हैं। 'शब्दादि हेतुवोंसे तथा अन्तरप्रतिष्ठितत्व हेतुसे वैश्वानर करके परमेश्वरका ग्रहण नहीं बन सकता है' ऐसा आक्षेप नहीं करना। क्योंकि यहां जाठरका परित्याग न करके परमेश्वरदृष्टिका उपदेश है। अर्थात् जाठराग्नि परमेश्वरकी प्रतीक है। अथवा जाठर उपाधिक परमेश्वरका ही यह उपदेश है। क्योंकि जाठरमें द्युमूर्धत्वादिका असम्भव है। और पुरुषरूपसे भी इस वैश्वानरको वेदमें कहा है, पुरुषत्व जाठरमें बनता नहीं इति।

शंका। वैश्वानर परमेश्वर होनेको योग्य नहीं है, क्योंकि वैश्वानर शब्दजाठरअग्निमें रूढ़ है। और 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरः' इस अग्निरहस्यको वैश्वानरविद्यामें श्रुत जो 'अग्नि' शब्द है सो भी जाठराग्नि आदिक अर्थान्तरमें रूढ होनेसे परमेश्वरमें नहीं बन सकता है। और 'शब्दादिभ्य' यहां 'आदि' शब्द करके 'हृदयं गार्हपत्यः' इत्यादिक वचनों करके त्रिविध अग्निकी कल्पना; तथा—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत् तद्धोमीयम्'* (छा०) अर्थ—भोजनकालमें जो प्रथम भोजन करनेके योग्य अन्न यदृच्छासे आवे तिसका

*टि:—वैश्वानरका उपासक अपनेको द्युमूर्धादिमान् विराट्रूप वैश्वानर समझता हुवा—अपने उरको वेदि समझे, और लोमोंको कुशा, हृदयको गार्हपत्य अग्नि, मनको अन्वाहार्यपचन अर्थात् दक्षिणाग्नि, और मुखको आहवनीय समझे। इस प्रकार भावना करता हुवा प्राणाग्निहोत्रको करे।

सो उपासक 'प्राणाय स्वाहा' इस मन्त्रसे प्रथम आहुति देवे। अर्थात् प्रथम ग्रासको भक्षण करे। इससे प्राणकी तृप्ति होती है। प्राणकी तृप्तिसे चक्षु तृप्त होता है। चक्षुकी तृप्तिसे आदित्य तृप्त होता है। आदित्यकी तृप्तिसे द्युलोक तृप्त होता है। द्युकी तृप्तिसे द्युके और आदित्यके आश्रित जीवोंको तृप्ति

प्राणाग्निमें हवन करना चाहिये इति। इत्यादिक वचनों करके वैश्वानरमें प्राणाहुतिकी अधिकरणताका संकीर्तन; इत्यादिक हेतुवों करके भी 'जाठराग्नि ही वैश्वानर है' ऐसा जाननेको योग्य है। और अन्तःप्रतिष्ठानका भी श्रवण होता है-'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद'

होती है। इन सर्वकी तृप्तिसे भोक्ता प्रजासे पशुसे खाद्य अन्नसे शरीरकी कान्तिसे व ब्रह्मवर्चससे तृप्त होता है।

और 'व्यानाय स्वाहा' इस मन्त्रसे दूसरी आहुति देवे। इससे व्यान तृप्त होता है। व्यानकी तृप्तिसे श्रोत्र तृप्त होता है। श्रोत्रकी तृप्तिसे चन्द्रमा तृप्त होता है। चन्द्रमाकी तृप्तिसे दिशा तृप्त होती हैं। दिशावोंकी तृप्तिसे दिशावोंके और चन्द्रके आश्रित जीवोंकी तृप्ति होती है। इन सर्वकी तृप्तिसे भोक्ता प्रजादिकसे तृप्त होता है।

और 'अपानाय स्वाहा' इस मन्त्रसे तृतीय आहुति देवे। इससे अपानकी तृप्ति होती है। अपानकी तृप्तिसे वाक् तृप्त होती है। वाक्की तृप्तिसे अग्निकी तृप्ति होती है। अग्निकी तृप्तिसे पृथिवीकी तृप्ति होती है। पृथिवीकी तृप्तिसे पृथिवी और अग्निके आश्रित जीवोंको तृप्ति होती है। इन सर्वकी तृप्तिसे भोक्ता प्रजादिकसे तृप्त होता है।

और 'समानाय स्वाहा' इस मन्त्रसे चतुर्थ आहुति देवे। इससे समान तृप्त होता है। समानकी तृप्तिसे मन तृप्त होता है। मनकी तृप्तिसे पर्जन्य तृप्त होता है। पर्जन्यकी तृप्तिसे विद्युत् तृप्त होता है। और विद्युत्की तृप्तिसे विद्युत्के और पर्जन्यके आश्रित जीवोंकी तृप्ति होती है। इन सर्वकी तृप्तिसे भोक्ता प्रजादिकसे तृप्त होता है।

और 'उदानाय स्वाहा' इस मन्त्रसे पञ्चम आहुति देवे। इससे उदान तृप्त होता है। उदानकी तृप्तिसे त्वक्की तृप्ति होती है। त्वक्की तृप्तिसे वायुकी तृप्ति होती है। वायुकी तृप्तिसे आकाश तृप्त होता है। आकाशकी तृप्तिसे वायु और आकाशके आश्रित जीवोंकी तृप्ति होती है। इन सर्वकी तृप्तिसे भोक्ता प्रजादिकसे तृप्त होता है।

जो इस अग्निहोत्रको त्यागकर केवल बाह्य अग्निहोत्रको करता है सो पुरुष अङ्गारोंको त्यागकर भस्ममें हवन करता है। और जो पुरुष अभेदभावसे वैश्वानरकी उपासना करता है, और इस अग्निहोत्रको करता है, तिस विद्वान्का सर्व लोकोंमें सर्वभूतोंमें और सर्व आत्मावोंमें हवन किया हुवा होता है। और जैसे अग्निमें प्रक्षिप्त इषीकातूल तुरत भस्म हो जाता है। ऐसे ही इस उपासकके सर्व पाप नष्ट हो जाते हैं। यह विद्वान् यदि चाण्डालको भी उच्छिष्ट देवे तो भी वैश्वानरमें ही अर्पण होता है। जैसे क्षुधा करके आतुर बालक माताकी उपासना करते हैं। इसी प्रकार सर्वभूत इस विद्वान्के प्राणाग्निहोत्रकी उपासना करते हैं। अर्थात् इस विद्वान्के भोजनसे सर्वजगत् तृप्त होता है।

अर्थात् "पुरुष शरीरके अन्तर स्थित वैश्वानरको जो जानता है सो सर्वत्र अन्नको भक्षण करता है" यह वचन भी शरीरके अन्तर जाठर अग्निमें ही बन सकता है। और सिद्धान्तीने जो प्रथम कहा था कि—'मूर्धैव सुतेजा' इत्यादिक वचनों करके प्रतिपाद्य द्युमूर्धादिरूप विशेष कारणोंसे परमात्मा ही वैश्वानर है, जाठरादिक नहीं। यहां हम कहते हैं कि—जब परमात्माका विशेष द्युमूर्धादिक, तथा जाठरका विशेष होमाधारत्वादिक, इन दोनों विशेषोंका भान यहां तुल्य होता है तो किस हेतुसे परमेश्वरका विशेष ही आश्रयण करनेको योग्य है, जाठरका नहीं ? अर्थात् जाठरके विशेषका भी दर्शन होता है, अतः जाठरका भी ग्रहण करना चाहिये। और यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि—"यद्यपि द्युमूर्धत्वादिक विशेष ईश्वरपक्षपाती है, तथा होमाधारत्वादिक विशेष जाठरपक्षपाती है, इन दोनों विशेषोंका प्रतिभान समान है। तथापि होमाधारत्व जगदाधार परमेश्वरमें बन सकता है। परन्तु परमेश्वर सम्बन्धी जो द्युमूर्धत्वादिक विशेष है तिसका जाठर अग्निमें अभाव है। अतः यह विशेष बलवान् है। अतः वैश्वानर शब्द करके जाठराग्निका ग्रहण नहीं बन सकता इति" तो यह सिद्धान्तीका कहना समीचीन है। इसीसे पक्षान्तरको कहते हैः-'अथवा' इत्यादि भाष्यम्। यद्यपि शरीरके अन्तर स्थित जाठराग्निमें द्युमूर्धत्वादि विशेषका निर्देश नहीं बन सकता है। तथापि अन्तर तथा बाहर सर्वत्र विद्यमान भूताग्निमें इस द्युमूर्धत्वादिक विशेषका निर्देश बन सकता है। क्योंकि भूताग्निका भी भूर्लोकादिकोंके साथ सम्बन्ध मन्त्रोंसे प्रतीत होता है। तहां श्रुतिः—'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्' इति ऋक्। अर्थ—अधः यह पृथिवी तथा ऊर्ध्व द्युलोकरूप रोदसीको तथा इन दोनोंके मध्यवर्ती अन्तरिक्ष लोकको जो भूताग्नि सूर्यरूप करके व्याप्त किया है अर्थात् जो तीनों लोकोंमें व्याप्त है सो भूताग्नि ध्यान करनेको योग्य है इति। इत्यादि। 'जड़ मात्र स्वरूप भूताग्निमें ध्येयत्व नहीं बन सकता है' ऐसी यदि अरुचि होवे तो अग्नि शरीरवाले देवताका वैश्वानर शब्दसे ग्रहण करना। अत एव 'अथवा तच्छरीराया देवताया' इत्यादि भाष्यम्। भूताग्नि है शरीर जिसका तिसका नाम यहां 'तच्छरीरा' है। अर्थात् भूताग्निकी अभिमानिनी जो देवता है तिस देवताके, ऐश्वर्यके योगसे द्युलोकादिक अवयव बन सकते हैं। अतः चेतनरूप देवता ही वैश्वानर है, परमेश्वर नहीं ?

समाधान । इस प्रकारकी शंकाके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहता है—न तथादृष्ट्युपदेशादिति । जो प्रथम वादीने सूत्रमें स्थित 'शब्दादिभ्यः' इस वचन करके, अर्थात् श्रुतिमें जो वैश्वानरादिक शब्द हैं तिन शब्दादिरूप कारणों करके, परमेश्वरका निराकरण किया है सो युक्त नहीं है। क्योंकि 'तथादृष्ट्युपदेशात्'। 'जाठराग्निको नहीं परित्याग करके जाठररूप वैश्वानरमें परमेश्वरदृष्टि करनी' इस प्रकार श्रुति उपदेश करती है। जैसे 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' 'मनरूप प्रतीकको ब्रह्मरूप करके उपासना करे'। तैसे प्रसङ्गमें भी जान लेना।

इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि—परमेश्वरदृष्टि करके उपास्य जो जाठराग्निरूप प्रतीक है, तिसके वाचक जो वैश्वानर शब्द तथा अग्नि शब्द हैं; तिन शब्दोंका लक्ष्यार्थ द्युमूर्धत्वादिमान् ईश्वर है।

अब प्रकारान्तरसे 'तथाद्दृष्ट्युपदेशात्' के अर्थको कहते हैं—**'अथवा जाठर'** इत्यादि भाष्यम्। जैसे 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' इत्यादिक मन्त्रोंमें मन आदि उपाधिवाला ब्रह्म द्रष्टव्य है। तैसे यहां जाठररूप वैश्वानर है उपाधि जिसका ऐसा जो परमेश्वर है सो द्रष्टव्यरूप करके उपदेशका विषय है। लक्षणा इस पक्षमें भी तुल्य है। परन्तु इस पक्षमें प्रधानरूप करके ईश्वर ही उपास्य है। और प्रथम प्रतीक पक्षमें गुणरूप करके परमेश्वर उपास्य है। और पूर्व परमेश्वरको लक्ष्य कहा है। तहां लक्षणाका जाठराग्निमें द्युमूर्द्धत्वादिकोंका असम्भवरूप बीजको दिखाते हैं—**'यदि च'** इत्यादि भाष्यम्। प्रसङ्गमें यदि परमेश्वर विवक्षित न होवे किन्तु केवल जाठराग्नि ही विवक्षित होवे तो श्रुतिमें जो द्युमूर्धत्वादिक विशेष कहे हैं तिन विशेषोंका अत्यन्त असम्भव होगा। क्योंकि जाठरमें द्युमूर्धत्वादिक विशेष नहीं बन सकते हैं। अतः लक्षणावृत्ति करके परमेश्वर ही विवक्षित है। और देवता तथा भूताग्निको आश्रयण करके भी जिस प्रकार द्युमूर्धत्वादि विशेषका उपपादन नहीं कर सकते हैं तिस प्रकारको अग्रिम सूत्रमें दिखावेंगे।

और प्रसङ्गमें वैश्वानरादिक शब्दों करके यदि केवल जाठराग्निकी ही विवक्षा होवे तो जाठरमें पुरुषके अन्तःप्रतिष्ठितत्वमात्र केवल रहेगा, पुरुषत्व नहीं रहेगा। और वाजसनेयी शाखावाले इस वैश्वानरको पुरुष भी कहते हैं। तहां श्रुतिः—**'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः'** इत्यादि। अर्थ—जो यह अग्निरूप वैश्वानर है सो पुरुष है, और जो प्राणी इस अग्निरूप वैश्वानरको पुरुषविध, तथा पुरुषके अन्तर प्रतिष्ठित जानता है सो सर्व फलको भोगता है इति। और परमेश्वरमें तो पूर्णत्वरूप पुरुषत्व तथा शरीररूप पुरुषके अन्तर प्रतिष्ठितत्व, ये दोनों बन सकते हैं। क्योंकि परमात्मा सर्वस्वरूप है। इस पूर्वोक्त रीतिसे सूत्रमें जो 'पुरुषमपि चैनमधीयते' इतना भाग है सो भी व्याख्यात हो चुका।

और जो कोई 'पुरुषविधमपि चैनमधीयते' इस प्रकार सूत्रके अवयवको पठन करते हैं; तिनके मतमें यह अर्थ है—वैश्वानर शब्द करके केवल जाठराग्निका ही स्वीकार करें तो केवल पुरुषके अन्तर प्रतिष्ठित तो जाठराग्नि हो सकता है। और पुरुषविध नहीं हो सकता है, क्योंकि जाठराग्नि जड़ है। परन्तु वाजसनेयी शाखावाले इस वैश्वानरको पुरुषविध भी कहते हैं-'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इति। इस पक्षमें भी जैसे अचेतन जाठरमें पूर्णत्वरूप पुरुषत्व नहीं बन सकता है। तैसे देहाकारत्वरूप पुरुषविधत्व भी नहीं बन सकता है। किन्तु केवल पुरुषके अन्तर-प्रतिष्ठितत्व ही बन सकता है।

शंका। जाठरमें भी देहव्यापित्वरूप पुरुषविधत्व बन सकता है।

समाधान। यहांपर प्रकरणके बलसे देहव्यापित्वरूप पुरुषविधत्वका ग्रहण नहीं हो सकता है। किन्तु द्युमूर्धत्वसे आदि लेके पृथिवीप्रतिष्ठितत्व पर्यन्त विराड्-देहाकारत्व रूप जो अधिदैव पुरुषविधत्व है; तथा प्रसिद्धमूर्धत्वसे आदि लेके चुबुकप्रतिष्ठितत्व पर्यन्त जो अध्यात्म पुरुषविधत्व है; तिसका ग्रहण करना। ऐसा पुरुषविधत्व जाठराग्निमें नहीं बन सकता है, अतः पूर्वोक्त रीतिसे वैश्वानरादि शब्दों करके परमेश्वरका ही ग्रहण करना जाठराग्निका नहीं। इतनेसे जाठराग्निका खण्डन हो चुका इति ॥ २६ ॥

और वादिने जो कहा था कि—'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्।' इत्यादिक मन्त्रवर्णमें भूताग्निका भी द्युलोकादिकोंके साथ सम्बन्ध देखनेमें आता है अतः भूताग्निके भी द्युमूर्धादिरूप अवयवोंकी कल्पना कर सकते हैं। अथवा भूताग्निरूप शरीरवाली जो देवता है तिस देवताके, ऐश्वर्यके योगसे द्युमूर्धादिरूप अवयवोंकी कल्पना हो सकेगी। अतः वैश्वानरादि शब्दों करके भूताग्निका अथवा देवतात्माका ही ग्रहण करना इति? तिसका परिहार भी अवश्य करना चाहिये। अतः इस परिहारको सूत्रकार स्वयं दिखाते हैं:—

अत एव न देवता भूतं च ॥ २७ ॥

अर्थ—१ अतः, २ एव, ३ न, ४ देवता, ५ भूतं, ६ च। इस सूत्रमें छ पद हैं। 'अत एव' कहिये श्रुति स्मृतियों करके निश्चित जो द्युमूर्धत्वादिकोंका सम्बन्ध, तथा सर्व लोकोंके आश्रित फलभागित्व, तथा सर्व पापोंका नाश, तथा आत्मा और ब्रह्म शब्दका उपक्रम, इन हेतुवोंसे देवता रूप तथा भूताग्नि रूप, वैश्वानर नहीं हो सकता है इति।

अब इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं:—औष्ण्य प्रकाश मात्र स्वरूप भूताग्निमें द्युमूर्धत्वादिकोंकी कल्पना नहीं हो सकती है। क्योंकि जो वस्तु स्वयं विकाररूप है सो दूसरे विकारका स्वरूप नहीं हो सकती है। जैसे घटरूप विकार दूसरा शरावरूप विकारात्मक नहीं हो सकता है। तैसे भूताग्निरूप विकार भी दूसरा द्युमूर्धादिरूप विश्वात्मक विकार नहीं हो सकता है। तथा देवतामें भी ऐश्वर्यके योग हुये भी द्युमूर्धत्वादिक धर्म नहीं रह सकते हैं। क्योंकी देवता द्युमूर्धादि स्वरूप विश्वका कारण नहीं है। और ऐश्वर्य भी देवताका परमेश्वरके अधीन है स्वतन्त्र नहीं। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि—जो कारण होता है सो कार्य स्वरूप होता है। अतः परमेश्वररूप कारण ही द्युमूर्धादिकवाला होगा, देवता नहीं। और जाठराग्नि आदिक तीनों पक्षोंमें आत्मशब्दका तथा ब्रह्मशब्दका असम्भव तो विद्यमान ही है इति। प्रथम हेतुमें 'द्युमूर्धत्वादिसम्बन्ध' करके द्युमूर्धाद्यवयवकत्व समझना। दूसरे हेतुमें जो 'फलभागित्व' पद है इसका अर्थ फलप्रदातृत्व करना चाहिये। और तीसरे हेतुमें जो 'सर्वपापनाश' पद है इसका अर्थ 'स्वसाक्षात्कार द्वारा सर्व पापका नाशजनकत्व' ऐसा अर्थ करना। ऐसा अर्थ करनेसे ये हेतु परमेश्वरमें रहेंगे। अन्यथा जीवमें रहेंगे, परमेश्वरमें नहीं।

शंका । भूताग्निके विश्वका प्रतिपादक—'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्' इस मन्त्रकी फिर क्या गति होगी ?

समाधान । केवल औष्ण्य प्रकाश स्वरूप भूताग्निकी महिमाको 'यो भानुना' इत्यादि मन्त्र नहीं कहता है किन्तु ब्रह्मविकार होनेसे ब्रह्मदृष्टि करके भूताग्निकी स्तुति परक उक्त मन्त्र है ॥ २७ ॥

पूर्व यह कह आये ह कि—अग्नि शब्द, तथा वैश्वानर शब्द, ईश्वरके लक्षक हैं। और 'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' इत्यादि श्रुतिके अनुरोधसे जाठराग्नि ईश्वरका प्रतीक है। अथवा जाठराग्नि उपहित ईश्वर ही वैश्वानर उपास्य है इति। अब "जाठराग्निरूप प्रतीक तथा उपाधिको त्याग करके भगवान् विराट् पुरुषाकाररूप वैश्वानरको अध्यात्म मूर्धासे लेकर चुबुक पर्यन्त अपने अवयवोंमें स्थापन करके साक्षात् वैश्वानरकी उपासना माननेमें भी अग्नि शब्दादिकोंका कोई विरोध है नहीं" इस अर्थको सूत्रकार दिखाते हैं:—

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

अथ—१ साक्षात्, २ अपि, ३ अविरोधं, ४ जैमिनिः। इस सूत्रमें चार पद हैं। प्रतीक तथा उपाधिसे विना ही साक्षात् परमेश्वरकी उपासनाके अङ्गीकारमें भी कोई विरोध नहीं है इस प्रकार आचार्य जैमिनि ऋषि कहते हैं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं। तहां:—

शंका । यदि जाठराग्निका ग्रहण न करोगे तो 'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' यह श्रुति तथा अग्नि आदिक शब्दरूप कारण विरुद्ध होवेंगे।

समाधान । 'अत्रोच्यते' इत्यादि भाष्यम्। अन्तःप्रतिष्ठितत्व बोधक वचनका विरोध नहीं है; क्योंकि यहां 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' यह जो वचन है सो जाठराग्निमें उदरस्थत्वरूप अन्तःप्रतिष्ठितत्वको नहीं कहता है क्योंकि जाठराग्नि अप्रकृत है 'को न आत्मा किं ब्रह्म' यह ब्रह्मका प्रकरण है। और वैश्वानरादिक शब्दोंको ब्रह्मपरक होनेसे जाठर असंशब्दित भी (शब्दाविषय) है। किन्तु जैसे कोई वृक्षमें शाखाको प्रतिष्ठित देखता है। तैसे ही नखसे लेकर शिखा पर्यन्त अवयवोंका समुदायरूप जो यह शरीर है इस शरीरमें, जो ये मूर्धासे लेकर चुबुक पर्यन्त अवयव प्रतिष्ठित हैं इन अवयवोंमें वैश्वानरको प्रतिष्ठित उपासक देखता है। अतः पूर्वोक्त वचन 'अन्तःप्रतिष्ठितत्वेन' वैश्वानरको ही कहता है। अर्थात् जैसे शाखामें स्थित पक्षीको 'वृक्षमें स्थित है' इस प्रकार कहते हैं। तैसे मूर्धादिक अवयवोंमें स्थित वैश्वानरको 'पुरुषमें स्थित है' इस प्रकार 'पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' यह वचन कहता है। और 'पुरुषविधं' यह जो पुरुषविधत्व वचन है सो भी जाठराग्निके अभिप्रायसे नहीं कहा गया है। किन्तु

मूर्धासे लेकर चुबुक पर्यन्त अवयवोंमें कल्पित जो अध्यात्म पुरुषविधत्व है तिस पुरुषविधत्वकी अपेक्षा करके वैश्वानरके अभिप्रायसे ही कहा गया है इति।

अब पक्षान्तरको दिखाते हैं:—'**अथवा**' इत्यादि भाष्यम्। अथवा अध्यात्म तथा अधिदैवतरूप जो पुरुषविधत्व है तिस पुरुषविधत्वरूप उपाधिवाला जो '**को न आत्मा किं ब्रह्म**' यह प्रकृत प्राप्त परमात्मा है तिस परमात्माका उपाधियोंको त्याग करके जो केवल शुद्ध साक्षी स्वरूप है तिसके अभिप्रायसे 'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद' यह वचन कहा है। यहां पुरुषविध शब्दका अर्थ पूर्वोक्त ही जानना। और 'अन्तःप्रतिष्ठित' शब्दका अर्थ लक्षणावृत्ति करके साक्षी जानना। क्योंकि वस्तुतः साक्षी ही सर्वके अन्तर प्रतिष्ठित हैं। और पूर्वापरका आलोचनबल करके परमात्माका परिग्रहके निश्चित हुये वैश्वानर शब्द भी किसी योग करके परमात्मामें ही वर्तेगा। सो दिखाते हैं-'विश्वश्चायं नरश्च विश्वानरः' 'अथवा विश्वेषां वाऽयं नरः विश्वानरः' 'विश्वे वा नरा अस्येति विश्वानरः' इति सर्वात्म स्वरूप होनेसे परमात्माका नाम विश्वानर है। 'नरे संज्ञायाम्' इस सूत्रसे पूर्व पदको दीर्घ होता है। और जो विश्वानर है तिसीका नाम वैश्वानर है। यहां स्वार्थमें तद्धित प्रत्यय जानना। जैसे 'रक्ष एव राक्षसः' तैसे 'विश्वानर एव वैश्वानरः' इनभिन्न भिन्न व्युत्पत्तियोंका अर्थ पूर्व कह आये हैं तहांसे जान लेना। और अग्रणीत्वके योगका आश्रयण करके अग्नि शब्द भी परमात्माविषयक ही है सो दिखाते हैं—'नि' प्रत्यय है अन्तमें जिसके ऐसा जो गत्यर्थक अगि धातु है तिसका रूप अग्नि शब्द है—**'अङ्गयति गमयत्यग्रं कर्मफलं जगतो जन्म वा प्रापयतीत्यग्निरग्रणीरुक्तः'**। अर्थात् जो अग्ररूप कर्मफलको अथवा जगत्के जन्मको प्राप्त कराता है, सो अग्रणी व अग्नि कहा जाता है। और कर्मफलको अथवा जगत्के जन्मको देनेवाला तो परमात्मा ही है। अतः यहां अग्नि शब्द करके भी परमात्माका ही ग्रहण करना, भूताग्नि आदिकोंका नहीं। और जो गार्हपत्यादिक तीन अग्निकी कल्पना तथा प्राणाहुत्यधिकरणत्वको कहा है सो भी परमात्मामें उपपन्न हो सकता है, क्योंकि परमात्मा सर्वात्मस्वरूप है इति ॥ २८ ॥

यदि इस प्रसङ्गमें वैश्वानरादिक शब्दों करके विभु परमेश्वरका ग्रहण करोगे तो प्रादेशमात्र श्रुतिकी उपपत्ति किस प्रकार होगी? ऐसी शंकाके हुये प्रादेशमात्र श्रुतिके व्याख्यानको करने वास्ते सूत्रकार आरम्भ करते हैं:—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

अर्थ—१ अभिव्यक्तेः, २ इति, ३ आश्मरथ्यः। इस सूत्रमें तीन पद हैं। प्रादेशमात्र हृदयादिक देशमें परमात्माकी अभिव्यक्ति होनेसे परमात्मामें प्रादेशमात्र श्रुतिकी उपपत्ति बन सकती है इस प्रकार आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं इति। तात्पर्य यह है कि—परिमाणरूप व परिच्छेदरूप मात्रा करके रहित जो व्यापक अपरिच्छिन्न परमेश्वर है

तिस परमेश्वरमें जो औपाधिक प्रादेशमात्रत्व कहा है सो परमात्माकी अभिव्यक्तिके निमित्त है। इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं:—प्रादेशमात्र परिमाणवाले हृदय-देशमें जो अपरिच्छिन्न परमेश्वर है सो उपासक पुरुषोंके प्रति अनुग्रहके लिये औपाधिक प्रादेशमात्र स्वरूप करके अभिव्यक्त (प्रगट) होता है। क्योंकि परिच्छिन्न दृष्टिवाले उपासकको अपरिच्छिन्न स्वरूपकी उपलब्धिमें सामर्थ्य है नहीं। इसलिये परमेश्वरको प्रादेशमात्र कहा है। और **'अभिव्यज्यते किल प्रादेशमात्रपरिमाणः परमेश्वरः'** इस भाष्यमें जो 'किल' शब्द है सो, अपनेमें जो स्वाभाविक अणिमादि ऐश्वर्य हैं तिनोंको ख्यापन करने वास्ते स्वयं परमात्मा उपासकोंके प्रति सूक्ष्म स्वरूप हो जाता है— इस अर्थको बोधन करता है।

अथवा उपलब्धिके स्थान जो हृदयादिक प्रदेश हैं, तिनोंमें परमेश्वर विशेष-रूपसे प्रतीत होता है। इसलिये परमेश्वर को प्रादेशमात्र कहा है। इस पूर्वोक्त रीतिसे परमेश्वरमें भी अभिव्यक्तिके निमित्त जो प्रादेशमात्रकी श्रुति है सो समीचीन ही है यह सिद्ध हुवा इति॥ २९॥

अब मतान्तरको दिखाते हैं:—

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

अर्थ—१ अनुस्मृतेः, २ बादरिः। इस सूत्रमें दो पद हैं। "जैसे प्रस्थ करके नापे हुये जो यव हैं सो यव भी प्रस्थ कहे जाते हैं। तैसे ही प्रादेशमात्र हृदयमें प्रविष्ट जो मन है तिस प्रादेशमात्र मन करके परमेश्वरकी अनुस्मृति होती है, अतः परमेश्वर भी प्रादेश-मात्र कहा जाता है" इस प्रकार बादरि आचार्य मानते हैं इति॥

शंका। यवोंमें जो अपना परिमाण है सो परिमाण ही प्रस्थके सम्बन्धसे व्यक्त होता है अतः यवोंको प्रस्थमात्र कह सकते हैं; और ईश्वरमें तो कोई परिमाण है नहीं, अतः "ईश्वरमें जो परिमाण है सो प्रादेशमात्र हृदयादिकोंके सम्बन्धसे अभिव्यक्त होता है" ऐसा नहीं कह सकते; अतः पूर्वोक्त दृष्टान्त असङ्गत है?

समाधान। यद्यपि यवोंमें स्वगत परिमाण ही प्रस्थके सम्बन्धसे अभिव्यक्त होता है। और यहां परमेश्वरमें स्वगत परिमाण कुछ है नहीं जो हृद-यादिके सम्बन्धसे अभिव्यक्त होवे। तथापि मन्त्रोंमें प्रयुक्त जो प्रादेशमात्र श्रुति है तिसका आलम्बन कहिये विषय यथाकथंचित् अनुस्मरण (प्रादेश-मात्रत्व) हो सकता है। अर्थात् हृदयमें स्थित जो प्रादेशमात्रत्व है सो हृदयमें स्थित मन करके स्मृति द्वारा स्मर्यमाण परमात्मामें कल्पित है। और कल्पित जो प्रादेशमात्रत्व है सोई श्रुतिका आलम्बन है। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि प्रादेशमात्र हृदय गोलकरूप उपाधिके सम्बन्धसे परमात्मामें स्थित

जो कल्पित परिमाण है सोई मन आदिकोंके सम्बन्धसे व्यक्त होता है। अतः पूर्वोक्त दृष्टान्त समीचीन ही है इति।

अब इस सूत्रका दूसरी रीतिसे अर्थको कहते हैंः—

शंका। जहां प्रादेशमात्र ब्रह्मकी अभिव्यक्ति होती है; तहां प्रादेशमात्रत्व वस्तुतः स्मृतिमें है ब्रह्ममें नहीं। अतः हृदय व मनके द्वारा आरोपित जो स्मृतिगत परिमाण है तिसका स्मर्यमाण ब्रह्ममें आरोप नहीं बन सकता है। क्योंकि ब्रह्मका और स्मृतिका विषयविषयित्वेन भेद निश्चित है?

समाधान। प्रादेशमात्र श्रुतिकी अर्थवत्ताके लिये प्रादेशमात्र परिमाण करके रहित भी परमात्मा है तो भी प्रादेशमात्रत्वेन हृदयमें स्मरण करनेको योग्य है। अर्थात् ब्रह्मका अन्तःकरणके साथ तादात्म्याध्यासके विद्यमान हुये अन्तःकरणके धर्म स्मृति आदिकोंके साथ भी ब्रह्मका तादात्म्याध्यास अविद्यादशामें बन सकता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे परमेश्वरमें जो प्रादेशमात्र श्रुति है सो अनुस्मृतिका निमित्त है इस प्रकार बादरि आचार्य मानते हैं इति ॥ ३० ॥

यथाकथंचित् प्रादेशमात्र श्रुतिकी गतिको कहकर अब साक्षात् श्रुति करके उक्त संपत्ति रूप गतिको कहते हैंः—

संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥ ३१ ॥

अर्थ—१ संपत्तेः, २ इति, ३ जैमिनिः, ४ तथा, ५ हि, ६ दर्शयति। इस सूत्रमें छ पद हैं। अथवा परमेश्वरकी जो मूर्धादिक स्थानोंमें स्थितिरूप संपत्ति है तिस संपत्तिरूप निमित्तसे परमेश्वर विषयक जो प्रादेशमात्र श्रुति है सो समीचीन ही है। और इसी अर्थको वाजसनेयि ब्राह्मण भी दिखाता है इस प्रकार जैमिनि आचार्य मानते हैं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको दिखाते हैं। अपने अध्यात्म मूर्धासे लेकर चुबुक पर्यन्त देहके अवयवोंमें, त्रैलोक्यात्मस्वरूप वैश्वानर परमात्माके जो द्युलोकरूप मूर्धासे लेकर पृथिवी पर्यन्त अवयव हैं तिन अवयवोंको सम्पादन करती हुई, अर्थात् अध्यात्म अवयवोंमें अधिदैव अवयवोंकी दृष्टिको कराती हुई, प्रादेश मात्र जो अध्यात्म मूर्धासे लेकर चुबुक पर्यन्त देश है तिसमें परमेश्वरकी स्थितिरूप प्रादेशमात्र संपत्तिको 'प्रादेशमात्र' श्रुति कहती है। क्योंकि छान्दोग्यमें स्थित इस वैश्वानर विद्या प्रतिपादक प्रकरणके समान प्रकरणको वाजसनेयि ब्राह्मण भी इसी प्रकार दिखाता है। तहां ब्राह्मणरूप श्रुतिः— 'प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता अभिसंपन्नाः।' इत्यादि। अर्थात् अप्रादेशमात्र अपरिच्छिन्न जो परमात्मा है तिसको मूर्धासे लेकर चुबुक पर्यन्त स्थानमें सम्पादन करनेसे "परमात्मा प्रादेशमात्रकी तरह है वस्तुतः नहीं" इस प्रकारसे पूर्वकालमें देवता सम्यक् जानते भये, और जानकर तिस ईश्वरको ही प्राप्त

होते भये। इस हेतुसे तुम्हारे लोगोंके प्रति "जिस प्रकार मूर्धादिक अध्यात्म अङ्गोंमें प्रादेश परिमाणको नहीं उलङ्घन करके वैश्वानरको आप लोग संपादन करोगे तिस प्रकारसे हम द्युलोकादिक अवयवोंको कहेंगे" इस प्रकार कैकेय राजा प्राचीनशालादिक षट् ऋषियोंके प्रति प्रतिज्ञाको कह करके; पुनः—**'मूर्धानमुपदिशन्नुवाच। एष वा अतिष्ठा वैश्वानरः'** इत्यादि। अर्थ—कैकेय राजा स्वहस्तकी अङ्गुलि करके अपने मूर्धाको दिखाता हुवा कहता भया कि—भूरादिक लोकोंको उलङ्घन करके उपर भागमें स्थित जो यह अधिदैव द्युलोक है सो वैश्वानरका मूर्धारूप अवयव है इति।

अर्थात् प्रसिद्ध अपने मूर्धामें वैश्वानरका जो द्युलोकरूप अधिदैव अतिष्ठात्वगुणविशिष्ट मूर्धा है तिस मूर्धाकी अभेदरूपसे दृष्टि कर्तव्य है। यहां सर्वत्र वैश्वानर शब्द करके वैश्वानरके अङ्गोंका ग्रहण करना। इसी प्रकार अपने चक्षुको दिखाता हुवा कहता भया—**'एष वै सुतेजा वैश्वानरः'**। शोभन तेज करके सहित जो यह अधिदैव सूर्य है सो वैश्वानरका चक्षु है। अर्थात् प्रसिद्ध अपने चक्षुमें अधिदैव आदित्यरूप जो वैश्वानरका सुतेजस्त्व गुणवाला चक्षु है तिस चक्षुकी अभेदरूपसे दृष्टि कर्तव्य है। तथा अपने नासिकाको दिखाता हुवा कहता भया कि—नाना प्रकारकी गतिवाला जो यह अधिदैव वायु है सो वैश्वानरका प्राण है। अर्थात् प्रसिद्ध अपने नासिकोपलक्षित प्राणमें वैश्वानरका जो अधिदैव वायुरूप पृथग्वर्त्मत्वगुणवाला प्राण है तिस प्राणकी दृष्टि कर्तव्य है। तथा प्रसिद्ध अपने मुखके अन्दर जो अवकाशरूप आकाश है तिसको दिखाते हुये राजा कहते भये कि-अधिदैव जो यह आकाश है सो वैश्वानरके शरीरका मध्य भाग है। अर्थात् प्रसिद्ध अध्यात्मरूप अपने मुखके अन्दर आकाशमें वैश्वानरके शरीरका मध्य भागरूप जो अधिदैव बहुलत्वगुणवाला आकाश है तिस आकाशकी दृष्टि कर्तव्य है। तथा अपने मुखमें जो लालारूप जल है तिस जलको दिखाते हुवे राजा कहते भये कि-अधिदैव जो यह सरित् समुद्रादिकरूप जल है सो वैश्वानरका रयि है। अर्थात् मूत्रस्थानरूप बस्तिमें रहनेवाला जल है। अर्थात् प्रसिद्ध अपने मुखमें स्थित लालारूप जलमें वैश्वानरका अधिदैवरूप जो रयित्व गुणविशिष्ट जल है तिस रयि रूप जलकी दृष्टि कर्तव्य है। तथा राजा अपने चुबुकको अङ्गुलि करके दिखाते हुये कहते भये कि—जो यह अधिदैव पृथिवी है सो वैश्वानरका पादरूप प्रतिष्ठा है। अर्थात् प्रसिद्ध अपने चुबुकमें वैश्वानरकी पृथिवीरूप जो प्रतिष्ठा है तिस प्रतिष्ठाकी दृष्टि कर्तव्य है। मुखका निचला भाग जो अधर है जिसको ओष्ठ भी कहते हैं तथा मुखफलक भी कहते हैं तिसका नाम चुबुक है। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुवा कि—प्रत्येक अध्यात्म अङ्गोंमें प्रत्येक अधिदैव अङ्गोंकी स्थितिरूप सम्पत्तिको करके पुनः अधिदैव अङ्गोंसे अभिन्न अध्यात्म अङ्गोंमें अभेदरूपसे समष्टि वैश्वानररूप परमात्माको स्थापन करके उपासना करे।

यद्यपि वाजसनेयकमें द्यौको अतिष्ठात्व गुणवाली कहा है, और आदित्यको सुतेजस्त्व गुणवाला कहा है। और छान्दोग्यमें द्यौको सुतेजस्त्व गुणवाली कहा

है, और आदित्यको विश्वरूपत्व गुणवाला कहा है। इस प्रकार गुणोंके भेद करके विद्याका भेद होनेसे छान्दोग्य तथा वाजसनेयक इन दोनोंमें एक विद्याकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। तथा वाजसनेयक श्रुतिके अनुसार छान्दोग्यके प्रादेशमात्र श्रुतिका व्याख्यान भी नहीं कर सकते हैं। तथापि छान्दोग्य तथा वाजसनेयकके बहुत स्थलोंमें समान अर्थकी प्रत्यभिज्ञा करके सिद्ध जो विद्याका अभेद है सो पूर्वोक्त इतने अल्प भेद करके निवृत्त नहीं हो सकता है। अतः 'परस्पर गुणोंका उपसंहार करना' अथवा 'शाखा भेदसे व्यवस्था करनी' परन्तु विद्याभेद नहीं बन सकता है। क्योंकि प्रादेशमात्र श्रुति दोनोंमें समान है। "तथा शाखाके भेद हुये भी सर्व शाखावोंमें प्रतीयमान वैश्वानरादिकोंकी उपासना एक है" इस न्यायको तृतीय अध्यायके गुणोपसंहारके अधिकारमें दिखावेंगे। अतः अतिष्ठात्व गुणका छान्दोग्यमें और विश्वरूपत्व गुणका वाजसनेयकमें उपसंहार करना योग्य है। इस पूर्वोक्त रीतिसे पूर्वोक्त सम्पत्ति है निमित जसकी ऐसी जो प्रादेशमात्र श्रुति है सो युक्ततर ही है। इस प्रकार जैमिनि आचार्य मानते हैं इति ॥ ३१ ॥

अब परमात्मानिष्ठ प्रादेशमात्रत्वमें जो सम्पत्तिप्रयुक्तत्व कहा है तिसमें जाबाल श्रुतिके संवादको सूत्रकार दिखाते हैं:—

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३२ ॥

अर्थ—१ आमनन्ति, २ च, ३ एनम्, ४ अस्मिन्। इस सूत्रमें चार पद हैं। जाबाल शाखावाले भी मूर्धा चुबुकके अन्तरालमें इस परमेश्वरको कथन करते हैं इति। जाबाल श्रुतिः—
'य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति' 'सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति। सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नासीति' इत्यादि। अर्थ— जो यह प्रसिद्ध परमात्मा 'अनन्त' है कहिये अपरिच्छिन्न है अर्थात् त्रिविध परिच्छेद शून्य है। अतः 'अव्यक्त' है कहिये स्वरूप करके अनभिव्यक्ति होनेसे अव्यक्त है अर्थात् दुर्विज्ञेय है। तिस परमात्माको मैं किस प्रकार जानुं? इस प्रकारका अत्रि ऋषिके प्रश्नके हुये याज्ञवल्क्य ऋषि उत्तरको कहते हैं-जो यह अनन्त अव्यक्त आत्मा है सो 'अविमुक्ते' कहिये अविद्यादिक उपाधि करके परिच्छिन्न तथा कर्मादिकों करके बद्ध संसारी जीवात्मामें भेदकल्पना करके प्रतिष्ठितः है अर्थात् उपास्य है। पुनः अत्रि ऋषि पूछते हैं कि—जीवरूप अविमुक्त किसमें प्रति ष्ठित है? याज्ञवल्क्य उत्तरको कहते हैं-वरणा तथा नासीके मध्यमें प्रतिष्ठित है। प्रश्न—'वरणा' किसको कहते हैं? तथा 'नासी' किसको कहते हैं? उत्तर-सम्पूर्ण इन्द्रिययकृत दोषोंको वारण करती है अतः भ्रूःको वरणा कहते हैं। तथा इन्द्रियकृत सम्पूर्ण दोषोंको नाश करती है। अतः नासिकाका नाम नासी है इति। यहां ऐसा जानना कि भ्रूरूप वरणा तथा नासिकारूप नासी इन दोनोंमें, नियम्य जीवके अधिष्ठानत्व द्वारा नियन्ता

परमेश्वरके अधिष्ठानत्वको विद्यमान होनेसे उपासना द्वारा वरणा तथा नासीमें सर्व पापादिक दोषोंका वारकत्वादिक है।

तहां प्रथम इस भ्रू सहित नासिकारूप जीवके स्थानका सामान्यसे वरणा तथा नासीरूपसे निर्वचनको कहा। अब विशेषरूप करके अत्रि ऋषि पूछते हैं कि— **'कतमच्चास्य स्थानं भवतीति भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः स एष द्युलोकस्य परस्य च सन्धिर्भवतीति'**। अर्थ—जीवका स्थान कौन है? याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—भ्रू तथा घ्राणको जो सन्धि है सो यह स्वर्गलोक तथा ब्रह्मलोककी सन्धिरूप करके ध्यान करनेको योग्य है। अर्थात् भ्रूकी तथा घ्राणकी जो सन्धि है सो जीवका स्थान है। इसमें स्वर्गलोक तथा ब्रह्मलोककी सन्धिदृष्टि करनी, तथाच पूर्वोक्त जीवके स्थानमें प्रत्यग्रूप करके परमात्मा उपास्य है अतः परमेश्वरमें प्रादेशमात्र श्रुति समीचीन ही है यह सिद्ध हुवा इति।

अब वैश्वानरका जो 'अभिविमानम्' यह विशेषणान्तर है तिसको परमेश्वरमें घटाते हैं—**'अभिविमानश्रुतिः प्रत्यगात्मत्वाभिप्राया'** इति भाष्यम्। अर्थ—यह जो अभिविमानश्रुति है सो भी प्रत्यग् आत्मत्वके अभिप्राय करके ही कही है इति। अर्थात् प्रत्यग्रूप करके सर्व प्राणी जिसको जानें तिसका नाम अभिविमान है। अथवा आभिमुख्य करके 'मैं ब्रह्मरूप हूं' इस प्रकार ब्रह्मको अपना प्रत्यग् आत्मारूप करके जो 'विमीयते' कहिये जानता है तिस प्रत्यगात्माका नाम अभिविमान है। अथवा प्रत्यग् आत्मस्वरूप होनेसे जो परमात्मा 'अभिगत' है अर्थात् सर्वरूप है, तथा जो परमात्मा 'विमान' कहिये परिमाण रहित है; तिस परमात्माका नाम अभिविमान है। अथवा परमात्माको सम्पूर्ण जगत्का कारण होनेसे जो परमात्मा सर्व जगत्को 'अभिविमिमीते' कहिये निर्माण करता है तिस परमात्माका नाम अभिविमान है। इस पूर्वोक्त रीतिसे परमात्मा ही वैश्वानर है जाठराग्नि आदिक नहीं। अतः जो वैश्वानरवाक्य है सो उपास्य ब्रह्ममें समन्वित हुवा यह सिद्ध हुवा।

यहां अधिदैव द्युमूर्धादिकोंको अध्यात्म अपने मूर्धादिकोंमें सम्पादन करके अवयवोंके अभेद होनेसे अवयवीका अभेद अवश्य होता है अतः द्युमूर्धादिमान् वैश्वानरको आत्मरूपसे ध्यान करना यह प्रथम पक्ष है।

और वैश्वानरके द्युमूर्धादिकोंको अपने मूर्धासे लेकर चिबुक पर्यन्त छ अङ्गोंमें सम्पादन करके सर्वात्मा वैश्वानर ध्येय है यह द्वितीय पक्ष है।

और द्युमूर्धादिउपलक्षित अनन्त अव्यक्त चिदात्माकी चिदाभासरूप जीवमें

स्थितिको सम्पादन करके चिदाभासरूप जीवको नासिका व भ्रूके मध्यमें सम्पादन करे। अर्थात् नासिकाका मूलस्थान दो भ्रुवोंके मध्यमें स्थित जीवरूप चिदाभासमें बिम्बरूपसे साक्षी व अधिष्ठानरूपसे स्थित चिदात्मा विश्वेश्वररूप वैश्वानरको प्रत्यग् आत्मरूपसे ध्यान करना चाहिये यह तृतीय पक्ष है॥३२॥

॥ इति वैश्वानराधिकरणम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यश्रीचिद्घनानन्दगिरिपूज्यपादशिष्य-गोविन्दानन्दगिरिविरचितायां सूत्रभाष्यार्थप्रदीपिकायां प्रथमाध्यायस्यास्पष्टश्रुतिसमन्वयाख्यो द्वितीयपादः ॥ २ ॥





प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ।

ओं श्रीगणेशायनमः। ओं श्रीगुरवे नमः। ओं श्रीशंकराचार्य्येभ्यो नमः॥

'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः॥' इत्यादिक सविशेष वस्तुके प्रतिपादक वाक्योंका ब्रह्ममें समन्वयको द्वितीय पादमें दिखा आये हैं। अब निर्विशेष वस्तुके प्रतिपादक वाक्योंका ब्रह्ममें समन्वयको कहनेके लिये तृतीय पादका आरम्भ करते हैं। तहां पूर्व वैश्वानराधिकरणमें "तीन लोकस्वरूप" जो वैश्वानर है सो ब्रह्मरूप परमात्मा ही है ऐसा कह आये हैं। अतः तीनों लोकोंका आयतन ब्रह्मसे भिन्न प्रधानादिक ही कहना होवेगा? ऐसी शंकाके हुये व्यास भगवान् कहते हैं:-

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्॥ १॥

अर्थ—१ द्युभ्वाद्यायतनम्, २ स्वशब्दात्। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'द्यु' कहिये स्वर्ग लोक तथा 'भू' कहिये पृथिवीलोक 'आदि'पद करके अन्तरिक्ष लोकादिक सम्पूर्ण जगत्का 'आयतन' कहिये स्थान अर्थात् अधिष्ठान ब्रह्म ही है प्रधानादिक नहीं, क्योंकि 'स्वशब्दात्' कहिये 'यस्मिन् द्यौ' इस श्रुतिमें आत्मशब्दका प्रयोग देखनेमें आता है इति।

और जो पूर्व अधिकरणमें कहा था कि—द्युलोकादिक विशेष करके विशिष्ट अर्थात् लोकत्रयस्वरूप वैश्वानररूप परमात्मा ही यहां उपास्य है इति। तिस कहनेका तात्पर्य यह है कि—निर्विशेष परमात्मा ही उपासनाके लिये लोकत्रयस्वरूप करके स्थित है। अर्थात् लोकत्रयस्वरूप वैश्वानरको प्रत्यगात्मारूप करके उपासना करे। और परमात्मा लोकत्रयका कारण है अतः उपसनाके लिये लोकत्रयस्वरूप बन सकता है।

और इस अधिकरणमें, निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार करके द्वैत प्रपञ्चकी निवृत्तिके लिये निर्विशेष ब्रह्मको ही जगत्का आयतन अर्थात् अधिष्ठान रूप करके कथन किया है। अतः पूर्वोक्त शंका असंगत है। 'वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्' इस द्वितीय पादस्थ सूत्रके विषयवाक्यमें स्थित जो वैश्वानर शब्द है सो यद्यपि जाठराग्नि, भूताग्नि, देवताग्नि, इन तीनोंमें साधारण है, तथापि जैसे द्युमूर्धादिकोंका प्रतिपादक वाक्यशेष करके वैश्वानर शब्दको ब्रह्मपरत्व कह आये हैं। तैसे ही 'यस्मिन् द्यौ' इस मन्त्रमें स्थित जगदायतनत्व भी यद्यपि प्रधान, वायु व जीवमें साधारण है, तथापि 'अमृतस्यैष सेतुः' इस वाक्यशेषमें स्थित 'सेतु' श्रुति करके इस सूत्रके विषयवाक्यको ब्रह्मपरत्व ही है। अतः 'वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्' इस सूत्रके साथ 'द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्' इस सूत्रकी दृष्टन्त

सङ्गति जाननी। अब इस अधिकरणसूत्रके मुण्डक उपनिषत्का वाक्यरूप विषयको दिखाते हैं—'इदं श्रूयते' इति भाष्यम्। मुण्डकमें ऐसा श्रवण होता है—**यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥** अर्थ—स्वर्ग, पृथिवी, अन्तरिक्षरूप जो लोकत्रयस्वरूप विराट्; तथा वागादिक सम्पूर्ण इन्द्रियों करके सहित मनरूप सूत्रात्मा; तथा श्रुतिस्थ चकार करके अव्याकृतरूप कारण; जिसमें 'ओतं' कहिये समर्पित हैं अर्थात् कल्पित हैं। तिन कल्पित पदार्थोंका अपवाद करके साजात्यादिक भेदरहित तिस अधिष्ठानरूप केवल ब्रह्मको ही श्रवणादिकों करके प्रत्यग् आत्मास्वरूप जानो। और आत्मासे अतिरिक्त पदार्थोंकी प्रतिपादक जो अपरा विद्यारूप वाणी है तिसको विशेष करके त्यागो। और वाणीका त्यागपूर्वक जो आत्माका साक्षात्कार है सो यही अमृत स्वरूप मोक्षका सेतु है। अर्थात् जैसे लोकप्रसिद्ध सेतु पर तीरका प्रापक होता है तैसे ही आत्मसाक्षात्कार भी असार अपार दुर्वार संसाररूप समुद्रके पर तीर रूप मोक्षका प्रापक है इति। माताकी तरह मुमुक्षुवोंके प्रति उपदेश करनेवाली यह श्रुति इस अधिकरणसूत्रका विषय है।

इस श्रुतिमें 'यस्मिन् ओतं' इस वचन करके द्युप्रभृतिका कोई आयतन प्रतीत होता है। और आयतनत्वरूप धर्म प्रधानादिकोंमें साधारण है। अतः "यहां क्या आयतन शब्द करके परब्रह्मका ग्रहण करना अथवा ब्रह्मसे भिन्न प्रधानादिकोंका ग्रहण करना" यह संशय होता है।

अथ पूर्वपक्ष। 'अमृतस्य एष सेतुः' यहां 'अमृतस्य' इस षष्ठी विभक्ति करके अमृतरूप ब्रह्मसे भिन्नरूप करके सेतुका श्रवण होता है। अत 'एष' शब्द करके परामृष्ट द्युप्रभृतिका आयतन प्रधानको ही मानना उचित है। और लोकमें भी जो पारवान् पदार्थ होता है सो ही सेतु शब्द करके कहा जाता है। ब्रह्मसे परे कोई है नहीं। क्योंकि 'अनन्तमपारम्' यह श्रुति ब्रह्मको काल करके अन्तरहित तथा देश करके पाररहित बोधन करती है। और प्रसङ्गमें जलविधारक मुख्य सेतुका ग्रहण तो नहीं बन सकता है; किन्तु गौण सेतुका ही ग्रहण करना होगा। और जब गौण सेतुका ग्रहण हुवा तब स्मृतिप्रसिद्ध व मुख्य सेतुका पारवत्त्वरूप गुणविशिष्ट प्रधानका ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि चेतनरूप पुरुषकी अपेक्षासे प्रधान परिच्छिन्न है। अर्थात् देश करके पारवाला है। और द्युप्रभृति जगत्का कारण होनेसे प्रधान जगत्का आयतन भी बन सकता है। और सांख्यके मतमें प्रधानका ज्ञान भी मोक्षका उपयोगी है। क्योंकि प्रधानके ज्ञानका अभाव हुये प्रधानसे भिन्न करके पुरुषका निश्चय न होनेसे मोक्षकी अनुपपत्ति होगी। इस पूर्वोक्त रीतिसे प्रधान ही आयतनरूप करके ग्रहण करनेको योग्य है इति।

यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे कि—श्रुतिरूप प्रमाणसिद्ध वस्तुको ही जगत्का आयतन मानना उचित है। यद्यपि प्रधान स्मृतिरूप प्रमाणसे सिद्ध है तथापि

श्रुति करके सिद्ध नहीं है। अतः प्रधान जगत्का आयतन नहीं बन सकता है? ऐसी शंकाके हुये पूर्ववादी पक्षान्तरको कहता है—'**श्रुतिप्रसिद्धो वा वायुः स्यात्**' इति भाष्यम्। अर्थ—अथवा श्रुति करके प्रसिद्ध जो वायु है सो जगत्का आयतन बन सकता है इति। तहां श्रुति—'**स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति**' इति (बृहदा०)। अर्थ—याज्ञवल्क्य उद्दालकके प्रति कहते हैं—हे गौतम (उद्दालक)! गन्धर्व करके उक्त जो सूत्र हैसो वायु है। और जैसे सूत्र करके मणि आदिक ग्रथित होते हैं। तैसे समष्टि लिङ्गात्मक वायुरूप सूत्र करके यह लोक तथा परलोक सम्पूर्ण स्थूल प्रपञ्च ग्रथित है इति। इस श्रुति करके वायुमें भी जगत्का विधारकत्व सिद्ध होता है। अतः सूत्रात्मारूप वायुका ही 'आयतन' पद करके ग्रहण करना योग्य है।

अथवा प्रधान तथा वायु इन दोनों पक्षोंमें श्रुतिमें स्थित आत्मशब्दकी अनुपपत्ति होनेसे पक्षान्तरको पूर्ववादी दिखाता है—'**शारीरो वा स्यात्**' इति भाष्यम्। अथवा द्युप्रभृतिका आयतन जीवात्मा बन सकता है। क्योंकि जीवको भोक्ता होनेसे भोग्यरूप प्रपञ्चके प्रति जीव आश्रय है। अर्थात् प्रपञ्च स्वनिष्ठ भोग्यता निरूपित भोक्तृत्वरूप सम्बन्ध करके जीवमें रहता है।

अथ **सिद्धान्तपक्ष***। '**द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्**।' यहां 'द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ' इस प्रकार द्वन्द्व समासके अनन्तर 'द्युभुवावादी यस्य' द्यौ और भू हैं आदि जिसके तिसका नाम द्युभ्वादि है' इस प्रकार बहुव्रीहि समास है। यहां समासका अर्थ निखिल जगत् है। '**यस्मिन् द्यौः पृथिवी**' इस वाक्यमें जो द्यु, पृथिवी, अन्तरिक्ष और मन व सम्पूर्ण प्राण इत्यादिक निखिल जगत् तन्तुवोंमें पटकी तरह ओत प्रोत भावसे निर्दिष्ट है तिसका आयतन कहिये अधिष्ठान परब्रह्म ही होनेको योग्य है। क्योंकि '**स्वशब्दात्**' अर्थात् द्युपृथिवी आदिक जिसमें 'ओतम्' अनुस्यूत हैं और द्युपृथिवी आदिकका जो आयतन है तिस विषे आत्मशब्दका प्रयोग 'यस्मिन् द्यौः' इस श्रुतिमें किया है—'**तमेवैकं जानथ आत्मानम्**'। तथाच इस श्रुतिमें जो आत्मशब्द है सो परमात्माके ग्रहण करनेसे ही समीचीन हो सकता है जीवात्मादिके ग्रहणसे नहीं। क्योंकि उपाधि करके परिच्छिन्न जीवमें व जड़ प्रधानादिकमें सर्व वस्तुका प्रत्यक्त्वरूप मुख्य आत्मत्व व आयतनत्व नहीं बन सकता है। अतः यहां द्युभ्वादिकोंका आयतन परमात्मा ही ग्रहण करनेको योग्य है। और कहीं २ छान्दोग्य आदिकमें स्वशब्द करके ब्रह्ममें ही आयतनत्वका श्रवण भी होता है। तहां श्रुति—'**सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः**' इति—

* टि०—यहां पूर्वपक्षमें प्रधानादिकोंकी उपासना फल है, और सिद्धान्तमें निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान फल है।

अर्थ--हे प्रियदर्शन श्वेतकेतो ! इस सम्पूर्ण प्रजाकी उत्पत्तिमें सत् वस्तु ही मूल है तथा स्थितिमें सत् वस्तु ही आयतन है तथा लयमें सत् वस्तु ही प्रतिष्ठा है इति । इस सूत्रमें स्थित 'स्व' शब्द जो है सो 'आत्म' शब्द तथा 'सत्' शब्द तथा 'पुरुष' शब्द तथा 'ब्रह्मादिक' शब्दोंका सूचक है । इसलिये भाष्यकार भगवान्ने कहा है— 'स्वशब्देनैव ब्रह्मण आयतनत्वं श्रूयते' इति ।

और इस सूत्रका, जो द्वितीय मुण्डकके द्वितीय खण्डका पञ्चम मन्त्र 'यस्मिन् द्यौः' इत्यादिक विषयवाक्य है; तिस वाक्यसे पूर्ववाक्य प्रथम खण्डका दशम मन्त्र- **'पुरुष एवेदं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् । एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य'** । अर्थ—पुरुषसे उत्पन्न हुवा जो सम्पूर्ण विश्व है सो पुरुषरूप परमात्माका स्वरूप ही है । और यह विश्व कैसा है-सफल अग्निहोत्रादिकरूप कर्म, तथा सफल उपासनारूप तप, तथा कर्मतपका प्रकाशक वेद, ये तीन स्वरूप है । तथा पर अमृत स्वरूप जो ब्रह्म है तिसका कार्य होनेसे परब्रह्म स्वरूप हो विश्व है । हे शौनक ! सर्व प्राणियोंके हृदयरूपी गुहामें स्थित जो सर्वात्मस्वरूप ब्रह्म है तिस ब्रह्मको जो अधिकारी पुरुष अपना आत्मारूप करके जानता है सो विद्वान् 'अज्ञोऽहम्' इस प्रतीतिकी विषय जो अज्ञानके साथ चेतनका तादात्म्यरूप ग्रन्थि है । तिसको इस जीवित शरीरके हुये ही नाश करता है इति । और उत्तर वाक्य द्वितीय खण्डका अग्यारमा मन्त्र—**'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'** ॥ अर्थ—पूर्व दिशामें वर्तमान जो वस्तुसमूह है सो नाशरहित ब्रह्म स्वरूप ही है । तथा पश्चिम दिशामें वर्तमान जो वस्तु हैं सो भी ब्रह्म स्वरूप ही हैं । तथा दक्षिण दिशामें तथा उत्तर दिशामें वर्तमान जो वस्तु हैं सो भी सर्व ब्रह्म स्वरूप ही हैं । और अधोदेशमें तथा ऊर्ध्वदेशमें ब्रह्म ही व्याप्त है । बहुत क्या कहें यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् बाधसामानाधिकरण्य करके ब्रह्मस्वरूप ही है । और यह ब्रह्म श्रेष्ठतम है इति । इन पूर्व और उत्तर वाक्योंमें जो 'पुरुष' शब्द तथा 'ब्रह्म' शब्द हैं ये शब्द भी ब्रह्मका हो संकीर्तन करते हैं । अतः ये दोनों मन्त्र ब्रह्मपरक ही हैं । वस्तुतः 'यस्मिन्' इस मन्त्रके पूर्व व उत्तरके सम्पूर्ण मन्त्र ब्रह्मको ही प्रतिपादन करते हैं । अतः मध्यवर्ती यह 'यस्मिन्' मन्त्र भी अवश्य ब्रह्मका ही प्रतिपादक है । इस पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्म ही स्वर्गादि प्रपञ्चका आयतन है यह सिद्ध हुवा ।

शंका । जैसे शाखा, स्कन्ध, मूल इस भेदसे वृक्ष अनेकात्मक है अर्थात् शाखाका आयतन स्कन्ध है तथा स्कन्धका आयतन मूल है । तथा च ये तीन स्वरूप वृक्ष है । तैसे हो एक रससे भिन्न अनेकरसरूप विचित्र सविशेष हो आत्मा भी होवेगा । क्योंकि आयतनायतनवत्त्वका श्रवण होता है । तथा 'सर्वं ब्रह्म' यह सामानाधिकरण्य है । अर्थात् हिरण्यगर्भका आयतन ईश्वर है तथा ईश्वरका आयतन ब्रह्म है । इस रीतिसे ब्रह्महिरण्यगर्भका आयतनायतनवत्त्व तथा सामानाधिकरण्य बन सकता है । अतः, अनेकात्मक, अनेकरस हिरण्यगर्भ ही यहां आत्मा है ।

समाधान। 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी' यह श्रुति 'कार्य प्रपञ्चविशिष्ट विचित्र आत्मा जाननेको योग्य है' ऐसा नहीं बोधन करती है। किन्तु अविद्याकृत कार्य प्रपञ्चको तथा अविद्याको विद्या करके प्रविलापन करते हुये सम्पूर्ण जगत्का आयतनरूप एकरस आत्माको जानो—इस अर्थको बोधन करती है। अन्यथा 'यस्मिन्' इस मन्त्रके उत्तरार्धगत 'तमेवैकं जानथ आत्मानं' इस श्रुतिमें एवकार और 'एक' शब्द व्यर्थ हो जायेगा। अर्थात् जैसे किसीने कहा कि—'जिसके उपर देवदत्त स्थित है उसको ले आवो' इस वचनको सुनकर पुरुष आसनको लेआता है, देवदत्तको नहीं। तैसे ही यह श्रुति द्यु पृथिवी अन्तरिक्ष आदिक सर्वका अधिष्ठान एकरस आत्माको विशेयरूप करके उपदेश करती है अन्यको नहीं।

इस पूर्वोक्त रीतिसे श्रुतिस्थ एवकार तथा एक शब्द करके 'निर्विशेष ब्रह्म ही ज्ञेय है, ऐसा कहकर अब दूसरे हेतुको दिखाते हैं—'विकारानृताभिसन्धस्य चापवादः श्रूयते' इति भाष्यम्। अर्थ—शरीरादि विकाररूप कल्पित पदार्थोंमें अभिसन्धि अभिमान है जिस पुरुषको तिसका नाम विकारानृताभिसन्ध है; ऐसे पुरुषकी अनर्थका भागी होनेसे श्रुति निन्दा करती है इति। तथा च श्रुतिः—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'। अर्थ—जो अतिमूढ पुरुष इस ब्रह्ममें नानात्वरूप भेदकी तरह देखता है सो जन्ममरण धाराको प्राप्त होता है इति। इस श्रुतिसे सत्य कूटस्थरूप एकरस ब्रह्म ही ज्ञेय है अनेक रस नहीं यह सिद्ध हुवा।

शंका। यदि ब्रह्मको अनेकात्मक नहीं मानोगे तो 'सर्वं ब्रह्म' इस सामानाधिकरण्यकी उपपत्ति किस प्रकार होगी।

समाधान। जैसे भ्रमविषय जो चोर है सो स्थाणुरूप है। तैसे जो सम्पूर्ण जगत् है सो ब्रह्मरूप है। इस प्रकार जगत्का प्रविलापन व बाधके लिये सर्व जगत्को उद्देश करके ब्रह्मत्वको वेद विधान करता है। 'जो ब्रह्म है सो सर्व जगत्रूप है' इस प्रकार ब्रह्ममें अनेकात्मकत्वरूप नानारसत्वबोधनके लिये सामानाधिकरण्य नहीं है। इस रीतिसे एकरस ब्रह्ममें भी 'सर्वं ब्रह्म' इस सामानाधिकरण्यकी उपपत्ति बन सकती है। इस अर्थमें श्रुतिप्रमाणको दिखाते हैं—'स यथा सैंधवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव'। अर्थ—जैसे लवणपिण्ड अन्तर बाहर रसान्तर करके शून्य केवल एकरस लवणमात्र ही है। तैसे अरे मैत्रेयि! यह सम्पूर्ण अन्तर बाहर विभागशून्य केवल चैतन्य एकरस आत्मा ही है इति। इस प्रकार आत्मामें एक रसताका ही श्रवण होता है। अतः द्यु पृथिवी आदिकोंका आयतन परब्रह्म ही है।

शंका। यदि द्युभ्वादिका आयतन ब्रह्मको मानोगे तो 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्' इस श्रुतिमें जो आगे 'अमृतस्यैष सेतुः' यह सेतुका श्रवण होता है

सो विरुद्ध होगा। क्योंकि जो सेतु है सो पारवान् हो उपपन्न हो सकता है ब्रह्म पाररहित है। अतः ब्रह्मसे भिन्न पारवान् प्रधानादिक ही द्यु पृथिवी आदिकोंका आयतन मानना चाहिये।

समाधान। 'अत्रोच्यते' इत्यादि भाष्यम्। जैसा लोकमें सावयवत्व, पारवत्त्वादिक मुख्य धर्मों करके विशिष्ट मृत्तिकादारुमय सेतु देखा है; तैसा पूर्वोक्त सर्व धर्मों करके विशिष्ट मृत्तिकादारुमय ही सेतु प्रकृतमें नहीं ग्रहण कर सकते हैं। किन्तु गौण जलादिकोंका बन्धनरूप विधारणवान् ही प्रकृतमें सेतु शब्दका अर्थ है। क्योंकि बन्धनार्थक षिञ् धातुका सेतु शब्द बनता है। तथा च प्रसङ्गमें सेतुश्रुति करके गौण विधारण मात्र ही विवक्षित है पारवत्त्वादिक नहीं। अतः सावयवत्व पारवत्त्वादिक रहित ब्रह्ममें भी जगत्का विधारकत्व रूपसेतुत्व बन सकता है। और 'अमृतस्यैष सेतुः' यहां 'अमृत' पद भावप्रधान निर्देश करके कहा है। अर्थात् अमृत शब्दका अर्थ अमृतत्व जानना। तथाच इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुवा कि—जो ब्रह्म द्यु पृथिवी आदिक जगत्का आयतन है सो ब्रह्म अमृतत्वका विधारक सेतुरूप है इति।

अथवा द्युलोकादिकोंका आधार जो ब्रह्म है सो सेतु शब्दका अर्थ नहीं है; किन्तु यहां ब्रह्मसाक्षात्कार सेतु शब्दका अर्थ है। अब इस अर्थको दिखाते हैं:— 'अपर आह' इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—कोई कहते हैं कि—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' यह पूर्ववचन आत्मज्ञानको संकीर्तन करता है। और 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' यह अव्यहित पूर्व वचन ब्रह्मसे भिन्न अर्थके प्रतिपादक शब्दोंके त्यागको संकीर्तन करता है। अतः, अनात्मपदार्थ प्रतिपादक वाणीका त्यागपूर्वक आत्मज्ञान जो है सो ही यहां अमृतत्वरूप मोक्षका साधन होनेसे 'अमृतस्यैष सेतुः' इस सेतुश्रुति करके संकीर्तन किया है। अर्थात् संसार समुद्रके पर पाररूप मोक्षका प्रापक आत्मसाक्षात्कार यहां सेतु शब्दका अर्थ है। और द्यु भु आदिका आयतन सेतु शब्दका अर्थ नहीं है। अतः पूर्वपक्षीने जो कहा था कि—सेतुश्रुतिसे ब्रह्मभिन्न प्रधानादिकोंको ही द्युलोकादिकोंका आयतन मानना चाहिये सो यह अयुक्त है इति। अर्थात् प्रधानादिकोंमें आयतनत्वका खण्डन कर आये हैं इति ॥ १ ॥

पूर्व इस अधिकरणसूत्रमें द्यु पृथिवी आदिक प्रपञ्चका आयतन ब्रह्मको कहा है। इस अर्थमें हेत्वन्तरको सूत्रकार दिखाते हैं:—

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

अर्थ—इस सूत्रमें एक ही पद है। इस हेतुसे भी यहां पर ब्रह्म ही द्युभ्वादिका आयतन है। क्योंकि अविद्यादिक दोषों करके रहित जो मुक्त पुरुष है तिस पुरुष करके 'उपसृप्य' कहिये प्रत्यग् आत्मरूप करके प्राप्त होनेको योग्य जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मका ही यहां वाक्यशेषमें 'व्यपदेशात्' कहिये कथन है इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको भाष्यकार दिखाते हैं—जो अविद्यादिक बन्धकी

निवृत्ति है सोई मुक्ति है। अब मुक्तिके प्रतियोगी बन्धको दिखाते हैं। देहादिक अनात्म वस्तुमें जो 'अहमस्मि' इस प्रकार आत्मबुद्धि है तिसका नाम अविद्या है और इस अविद्यासे ही देहादिकोंके पूजनादिकोंमें राग, तथा देहादिकोंके परिभवरूप तिरस्कारमें द्वेष, तथा शरीरके उच्छेदके दर्शनसे भय तथा विषादरूप मोह इत्यादिक अनेक प्रकारका निरन्तर वर्तमान अनर्थसमूह होता है। इस अविद्यादिका नाम बन्ध है सो हमारे सर्व प्राणियोंको प्रत्यक्ष सिद्ध है। और इस बन्धकी निवृत्तिरूप जो मोक्ष है सो सम्यग् ज्ञान करके साध्य है। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि– यथार्थ ज्ञान करके निवृत्त अविद्या रागद्वेषादिक दोषवाले मुक्त पुरुषों करके यह ब्रह्म गम्य है।

शंका। मुक्तों करके उपसृप्य ब्रह्मका व्यपदेशक वह वाक्यशेष कौन है?

समाधान। इस अर्थको द्युलोकादिकोंका आयतनरूप ब्रह्मको प्रसङ्गमें प्राप्त करके मुण्डकमें आगे कहा है–भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ अर्थ–'परावरे' कहिये पर–कारण, अवर–कार्य, उभयरूप अर्थात् सर्वात्मस्वरूप ब्रह्मके 'दृष्टे' कहिये 'ब्रह्मैवाहमस्मि' इस प्रकार साक्षात्कारके हुये। अथवा सर्व देवतावोंसे 'पर' कहिये उत्कृष्ट जो हिरण्यगर्भ है सो भी 'अवर' कहिये निकृष्ट है जिस ब्रह्मसे तिस ब्रह्मका प्रत्यग् आत्मारूप करके साक्षात्कारके हुये, इस विद्वान्की चेतन तथा अहंकारका तादात्म्याध्यासरूप हृदयकी ग्रन्थि विदीर्ण हो जाती है। तथा ज्ञेय वस्तु-विषयक सर्व संशय छिन्न हो जाते हैं। तथा सञ्चित व आगामि सर्व कर्म क्षीण होते हैं इति। इस मन्त्रको कहकर पुनः आगे लिखा है–'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्'॥ अर्थ–जैसे गमन करती हुई गंगा यमुनादिक जो नदी हैं सो अपने नाम तथा रूपको त्याग करके समुद्रको प्राप्त होकर समुद्ररूप होती हैं। तैसे आत्मज्ञ पुरुष भी मनुष्य देवतादिक नाम तथा रूप स्वरूप संसारको त्याग करके अव्याकृतसे उत्कृष्ट स्वयं ज्योति आनन्दरूप पूर्ण परब्रह्मको प्राप्त होता है इति। इन मन्त्रों करके ब्रह्ममें मुक्त पुरुषों करके उपसृप्यत्व अर्थात् प्राप्यत्वको दिखाया।

और ब्रह्ममें मुक्तोपसृप्यत्व शास्त्रमें प्रसिद्ध है। अब इसी अर्थमें बृहदारण्यक वाक्यको दिखाते हैं–यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ अर्थ–जिस कालमें इस विद्वान्के अन्तःकरणमें स्थित, इस लोकके तथा परलोकके विषयोंमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियोंके हेतु सम्पूर्ण वासनारूप काम, निवृत्त हो जाते हैं। तिस कालमें मरण धर्मवाला भी मनुष्यादिक अमृतरूप होता है। अर्थात् इस शरीरमें ही स्थित हुवा ब्रह्मरूप होता है इति।

और यहां मुण्डकमें द्युलोकादिकोंका आयतनरूप ब्रह्ममें जो 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ' इस वचन करके 'अन्य वाग्विमोचन पूर्वक विज्ञेयत्व' कहा है; सो अन्य बृहदारण्यक श्रुतिमें भी पर ब्रह्ममें देखा गया है। तहां श्रुति–तमेव

धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्॥ अर्थ—विवेकी पुरुष पूर्वोक्त अद्वितीय आत्माको 'विज्ञाय' कहिये शोधिततत्त्वं पदके लक्ष्यार्थको जानकर 'प्रज्ञा' कहिये मोक्षको संपादन करनेवाला महावाक्यार्थज्ञानको सम्पादन करे। और अनात्म पदार्थ प्रतिपादक बहुत शब्दोंको मन करके चिन्तन तथा वाणी करके कथन न करे। क्योंकि यह मन वाणीके परिश्रमको देनेवाले हैं इति। इत्यादिक पूर्वोक्त श्रुतियोंमें जैसे ब्रह्ममें मुक्तोपसृप्यत्व प्रसिद्ध है तैसे प्रधानादिकोंमें कहीं प्रसिद्ध है नहीं। अतः द्युलोकादिकोंका आयतनरूप करके परब्रह्म ही ग्रहण करनेको योग्य है प्रधानादिक नहीं इति॥ २॥

'यस्मिन् द्यौः' इत्यादि मुण्डकमें ब्रह्म ही द्यु भू आदिका आयतन है क्योंकि जैसे ब्रह्मके साधक आत्मशब्दादिक हेतुविशेष श्रुतिमें कहे हैं; तैसे प्रधानादिकोंके साधक हेतुविशेष प्रसिद्ध नहीं है। यहां अनुमानका आकार ऐसा जानना— **'द्युभ्वाद्यायतनं, ब्रह्म भवितुमर्हति, आत्मशब्दप्रतिपाद्यत्वात्, एवं मुक्तोपसृप्यत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटादिः'** इत्यादि। अर्थ—जैसे घटादिक दृष्टान्तमें ब्रह्मत्वरूप साध्य नहीं है; तैसे आत्मशब्दप्रतिपाद्यत्व तथा मुक्तोपसृप्यत्वरूप हेतु भी नहीं हैं। और द्युभ्वाद्यायतनरूप पक्षमें आत्मशब्दप्रतिपाद्यत्वादिक हेतु हैं; अतः ब्रह्मत्वरूप साध्य भी मानना चाहिये इति। इस व्यतिरेकि अनुमानादिकों करके सिद्धान्तको कहकर अब प्रधानपक्षको सूत्रकार खण्डन करते हैं:—

नानुमानमतच्छब्दात्॥ ३॥

अर्थ—१ न, २ अनुमानम्, ३ अतच्छब्दात्। इस सूत्रमें तीन पद हैं। सांख्य स्मृति करके परिकल्पित जो अनुमान अर्थात् प्रधान है सो द्युभ्वादिकोंका आयतन नहीं बन सकता है। क्योंकि 'अतच्छब्दात्' अचेतन प्रधानका वाचक शब्दका नाम यहां 'तत्' शब्द है। और 'तत्' शब्दसे भिन्न चेतनवाचक शब्दका नाम 'अतत्' शब्द है। पञ्चमी विभक्ति हेतुकी वाचक है। अर्थात् प्रकृत मुण्डक श्रुतियोंमें प्रधानका वाचक कोई शब्द नहीं है, जिस प्रधानवाचक शब्द करके प्रधानको जगत्का कारण अथवा जगत्का आयतन मानें। और अचेतन प्रधानसे भिन्न चेतनके वाचक आत्म शब्द, सत् शब्द, ब्रह्म शब्द, और 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इस श्रुतिमें स्थित सर्ववित् शब्द इत्यादिक शब्द विद्यमान हैं। अतः ब्रह्म ही द्युभ्वादिकोंका आयतन है प्रधान नहीं। और अतत् शब्दको विद्यमान होनेसे ही वायु भी यहां द्युलोकादिकोंका आयतन नहीं बन सकता है इति। अर्थात् प्रधानका साधक अनुमान नहीं बन सकता हैं, क्योंकि श्रौतबाध है॥ ३॥

प्राणभृच्च॥ ४॥

अर्थ—१ प्राणभृत्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। इस सूत्रमें स्थित चकार करके पूर्व सूत्रसे नकारका तथा अतच्छब्दका अनुकर्षण करना। प्राणभृत् जो जीव है सो भी द्युलोकादिकों-

का आयतन सम्यक् नहीं बन सकता है। क्योंकि जीव अविद्यारूप उपाधि करके अविभु तथा परिच्छिन्न ज्ञानवाला अल्पज्ञ है। तथा सर्वज्ञपदसमानाधिकरण जो आत्मशब्द है सो यहां अतत् शब्द है। यद्यपि जीवमें आत्मत्व तथा चेतनत्व है तथापि सर्वज्ञत्वादिकोंका सम्भव नहीं है। अतः अतत् शब्दरूप आत्मशब्द करके प्रतिपाद्य न होनेसे द्युलोकादिकोंका आयतन रूप करके जीवका ग्रहण करना योग्य नहीं है इति।

शंका। भोग्यको भोक्ता जीवका शेष होनेसे जीवमें भोग्य प्रपञ्चका आयतनत्व बन सकता है इस अर्थको हम पूर्व कह आये हैं।

समाधान। अदृष्टद्वारा जीवमें द्युलोकादिकोंका निमित्तत्वके हुये भी साक्षात् द्युलोकादिकोंका विवर्ताधिष्ठानत्वरूप आयतनत्व नहीं है। क्योंकि उपाधि करके जीव परिच्छिन्न है। अतः यावज्जगत्का अधिष्ठान बने नहीं।

शंका। जब इस सूत्रमें अतच्छब्दका अनुकर्षण किया तो 'न प्राणभृदनुमाने, अतच्छब्दात्' ऐसा एक ही सूत्र करना था, 'प्राणभृच्च' यह सूत्र पृथग् क्यों किया है?

समाधान। 'भेदव्यपदेशात्' इत्यादिक अग्रिम सूत्र करके केवल जीवका ही निषेध करते हैं, प्रधानका नहीं। इस ज्ञानके लिये पृथग् सूत्र किया है। यदि एकही सूत्र करते तो पूर्वोक्त निःसन्देह ज्ञान नहीं होता इति ॥ ४ ॥

और किस हेतुसे प्राणभृत्को द्युभ्वादिकोंका आयतन नहीं आश्रयण कर सकते हैं? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार कहते हैं:—

भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

अर्थ—इस सूत्रमें ही एक पद है। 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इस श्रुतिमें जीवको मुमुक्षु होनेसे ज्ञाता कहा है। और परिशेषसे आत्मशब्द करके ज्ञेय ब्रह्मको कहा है। इस प्रकार ज्ञातृ ज्ञेयभाव करके भेदव्यवहारको होनेसे ज्ञेय ब्रह्म ही द्युलोकादिकोंका आयतन है जीव नहीं इति ॥ ५ ॥

शंका। 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्'। इस श्रुतिका तात्पर्य यह है कि-'स्वात्मानमेव जानथ' 'अपने आत्माको ही जानो' इस वचनसे आत्मासे भिन्न ब्रह्ममें ज्ञेयत्व सिद्ध नहीं होता है किन्तु आत्मामें ही ज्ञेयत्व सिद्ध होता है। अतः जीवमें आयतनत्व तथा ज्ञेयत्वके निरासके लिये हेत्वन्तर कहना चाहिये? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार कहते हैं—

प्रकरणात् ॥ ६ ॥

अर्थ—इससूत्रमें भी एक ही पद है। पूर्वोक्तश्रुति करके शुद्ध प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्म ही द्युभ्वादिका आयतनमानना चाहिये। जीव नहीं क्योंकि ब्रह्मका प्रकरण है इति।

तहां मुण्डक श्रुति—'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'। इस श्रुतिमें एकके विज्ञान करके सर्वके विज्ञानकी अपेक्षा व जिज्ञासा कही है। तथाच सर्वात्मक ब्रह्मके विज्ञात हुये ही सर्व जगत्का ज्ञान बन सकता है। केवल जीवके विज्ञात हुये सर्वका ज्ञान नहीं बन सकता है। अतः जिज्ञासाशान्तिके लिये द्युलोकादिकोंका आयतन ब्रह्म ही यहां प्रतिपाद्य है जीव नहीं इति ॥ ६ ॥

और किस हेतुसे द्युभ्वादिकोंका आयतनरूप करके प्राणभृत् ग्रहण करनेको योग्य नहीं है ? ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार कहते हैं:—

स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥

अर्थ–१ स्थित्यदनाभ्याम्, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। द्युलोकादिकोंके आयतनको प्रसङ्गमें प्राप्त करके आगे 'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्रमें स्थिति और अदनको कहा है। तहां 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इस वचन करके कर्मफलके अशनको कहा है। तथा 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इस वचन करके उदासीनरूप करके स्थिति अर्थात् अवस्थानको कहा है। तिस अदन तथा स्थिति करके क्षेत्रज्ञ तथा ईश्वरका ग्रहण होता है। तहां यदि द्युलोकादिकोंका आयतनरूप करके ईश्वर विवक्षित होगा तो आगे-क्षेत्रज्ञका बोधक वचनसे पृथग् जो 'अनश्नन्' इत्यादिक प्रकृत ईश्वरका प्रतिपादक वचन है सो समीचीन होगा; यदि ऐसा न माने तो यह ईश्वर प्रतिपादक वचन अप्रकृत व असमीचीन हो जायगा इति।

शंका। यदि आयतनरूप करके जीवको विवक्षित न मानोगे तो तुम्हारे सिद्धान्तमें भी ईश्वरके बोधक वचनसे भिन्न जीवका बोधक 'तयोरन्यः' इत्यादिक वचन आकस्मिक व असमीचीन ही होगा।

समाधान। जीवको विवक्षित न होनेसे यह शंका नहीं बन सकती है। क्योंकि क्षेत्रज्ञ जो है सो कर्ता भोक्तारूप करके शरीर शरीरके प्रति बुद्धि आदिक उपाधिसे सम्बद्ध हुवा लोकमें प्रसिद्ध है। अतः श्रुतिके तात्पर्यका विषय आयतनरूप करके विवक्षित नहीं हो सकता है। किन्तु अनुवाद्य है। और ईश्वर जो है सो लोक प्रसिद्ध है नहीं अतः वैदिक तात्पर्य करके विवक्षित है। इसलिये ईश्वरबोधक वचन आकस्मिक नहीं है किन्तु समीचीन है। और क्षेत्रज्ञबोधक वचन लोकप्रसिद्ध अर्थका अनुवाद है। वस्तुतः 'द्वा सुपर्णा' यह श्रुति जीव तथा ईश्वरको अनुवाद करके प्रत्यगभिन्न शुद्ध ब्रह्मको ही बोधन करती है। शुद्ध ब्रह्म ही द्युभ्वादिकोंका आयतन है।

शंका। 'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्रमें बुद्धि तथा जीवका कथन होनेसे यह सूत्र परमात्माका बोधक नहीं हो सकता है।

समाधान। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्' इस अधिकरणसूत्रके 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके' इस विषयवाक्यके व्याख्यानमें यह अर्थ दिखा आये हैं कि—हृदयरूपी गुहामें जीवात्मा तथा परमात्माका ही ग्रहण किया है।

अतः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इस वाक्यमें भी जीव व ईश्वरका ही ग्रहण किया है इति। यदि पैङ्गी उपनिषत्व्याख्यानमें बुद्धि तथा क्षेत्रज्ञका ग्रहण किया है; तौ भी इस सूत्रकी कोई असंगति नहीं है। अब इस अर्थको भाष्यकार भगवान् आक्षेप पूर्वक दिखाते हैं—'कथम्' इत्यादि। अर्थात् जैसे घट मठादिरूप उपाधि करके गृह्यमाण आकाश भिन्न भिन्न है, तैसे बुद्धि आदिक उपाधिका अभिमानीरूप करके शरीर शरीरके प्रति भिन्न भिन्न गृह्यमाण जो प्राणभृत् है सो द्युभ्वादिकोंका आयतन नहीं बन सकता है। इस रीतिसे पैङ्गीब्राह्मण निषेध करता है। और जैसे घटादिक उपाधि करके उपलक्षित अर्थात् घटादिक उपाधि रहित जो घटाकाशादिक है सो महाकाशसे भिन्न नहीं है। तैसे ही सर्व शरीरोंमें बुद्धि आदिक उपाधि करके उपलक्षित अर्थात् रहित जो शुद्ध कूटस्थरूप प्राणभृत् है सो परमात्मारूप ही है, परमात्मासे भिन्न उपपन्न नहीं हो सकता है। अतः कूटस्थ साक्षीका निषेध नहीं बन सकता है। अर्थात् अदनवाक्यसे साभास बुद्धिका भोक्तृत्वेन अनुवाद करके, स्थिति वाक्यसे बुद्धि आदिकोंसे विलक्षण प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मरूप ज्ञेय साक्षीको 'द्वा सुपर्णा' यह मन्त्र बोधन करता है। तथाच ऐसे शुद्ध कूटस्थको कहनेवाला जो 'द्वा सुपर्णा' यह मन्त्र है। इससे अर्थात् द्यु भू आदिका आयतन ब्रह्म ही उक्त होता है। और उपाधि विशिष्ट जीव प्रतिषिद्ध होता है। अतः पैङ्गी ब्राह्मणका कोई विरोध नहीं है। और 'यस्मिन् द्यौ' इस मन्त्रमें भी सोई ब्रह्म ग्राह्य है बुद्धिविशिष्ट जीव नहीं। अतः बुद्धि आदिक उपाधिके अभिमानी जीवमें द्युलोकादिकोंके आयतनत्वका निषेध किया है। इस पूर्वोक्त रीतिसे पर ब्रह्म ही द्युभ्वादिकोंका आयतन है यह सिद्ध हुवा।

शंका। पूर्वोक्त 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः' इस अधिकरण करके ही द्युभ्वादिक वाक्यमें ब्रह्मपरत्व सिद्ध हो चुका है। क्योंकि **'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'**। अर्थ—कर्मविद्याके कथनका आनन्तर्य 'अथ' शब्दका अर्थ है। जिस विद्या करके निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति होती है तिसका नाम परा विद्या है इति। ऐसा उपक्रम करके दृश्यत्वादि गुणों करके रहित भूतोंका कारणरूप पर ब्रह्मके प्रतिपादक मुण्डक मन्त्रोंके मध्यमें ही 'यस्मिन् द्यौः' इस मन्त्रका पठन किया है, पुनः 'द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्' इस अधिकरणसूत्र करके 'यस्मिन् द्यौः' इस श्रुतिवाक्यको ब्रह्मपरत्व कहनेसे पुनरुक्ति दोष हुवा?

समाधान। **'प्रपञ्चार्थं तु पुनरुपन्यस्तम्'** इति भाष्यम्। अर्थ—दुर्विज्ञेय अक्षररूप ब्रह्मका सम्यक् साक्षात्कारके लिये; तथा सेतु शब्दका व्याख्यान करके भूतयोनिरूप ब्रह्ममें प्रत्यग् आत्मस्वरूपत्वको स्पष्ट करनेके लिये सूत्रकारने 'द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्' इस सूत्रका उपन्यास किया है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं। इस पूर्वोक्त रीतिसे मुण्डकोपनिषद् ब्रह्ममें समन्वित हुई यह सिद्ध हुवा इति॥ ७॥

इति द्युभ्वाद्यधिकरणम्॥

छान्दोग्यके सप्तम अध्यायमें यह प्रसङ्ग लिखा है कि—अनात्मज्ञ होनेसे

अपनेको शोच्य मानता हुवा देवऋषि जो नारद है सो ब्रह्मनिष्ठ महायोगी आजानसिद्ध सनत्कुमारजीके पास आकर कहा—'अधीहि भगव इति' 'हे भगवन्! आप मेरेको आत्माका उपदेश करें'? इस वचनको श्रवणकर सनत्कुमारने कहा कि—तुम आत्माके विषयमें जो कुछ जानते हो सो मेरेसे प्रथम कहो, तुम्हारे कहे हुये विषयको जानकर पश्चात् मैं उपदेश करुंगा। इस वचनको श्रवणकर नारदने कहा कि—हे भगवन्! मैंने ऋग्वेदको अध्ययन किया है, और यजुर्वेद, सामवेद, चौथा अथर्ववेद, पञ्चम वेद अर्थात् सम्पूर्ण इतिहासपुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पाद्विद्या, महाकालादि निधिशास्त्र, वाकोवाक्य-तर्कशास्त्र, एकायन-नीतिशास्त्र, देवविद्या—निरुक्त, ब्रह्मविद्या अर्थात् वेदविद्या शिक्षा कल्प छन्दादिक, भूतविद्या, क्षत्रविद्या—धनुर्विद्या, ज्योतिष्, सर्पविद्या—गारुड़, देवजनविद्या—गन्ध, युक्ति, नृत्य, गीत, वाद्य, शिल्पादिक विज्ञान, इन सर्व विद्यावोंको, हे भगवन्! मैं जानता हूं।

इतने विद्वान् जब आप हैं तब ऋगादिकोंमें ही आत्मविद्या है तिसको भी आप जानते ही होंगे—ऐसी शंकाके परिहारके वास्ते नारद पुनः कहते हैं—सो मैं हे भगवन्! मन्त्रविद् अर्थात् केवल शब्दार्थ विज्ञानवाला ही हूं आत्मवित् नहीं हूं। क्योंकि-'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति' इति (छा०)। अर्थ—आपके सदृश महानुभावोंसे मैंने श्रवण किया है कि-आत्मवित्पुरुष शोकको तर जाता है। और मैं कर्मवित् हूं आत्मवित् नहीं, अतः शोकको प्राप्त हो रहा हूं। हे भगवन्! आप कृपा करके मेरेको शोकोपलक्षित जन्म मरणादिरूप संसारके पर पारको प्राप्त करें इति।

इस वचनको श्रवण करके सनत्कुमारने कहा कि—हे नारद! जो तुमने ऋगादिक विद्याका अध्ययन किया है सो नाममात्र ही है। 'नामोपास्स्व' इस नामको तुम ब्रह्मरूप करके उपासना करो इत्यादिक कह कर आगे भूमाका उपदेश किया है—'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति। यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् यो वै भूमा तदमृतम्' ॥ इत्यादि। अर्थ—हे नारद! भूमा ही सुखरूप है अतः निरतिशय सुखार्थी पुरुषको भूमा ही विचार करनेको योग्य है। इस प्रकार जब सनत्कुमारने कहा तब नारदने कहा-'हे भगवन्! मैं भूमाको जाननेकी इच्छा करता हूं'? इस वचनको श्रवण कर सनत्कुमार प्रथम भूमाके लक्षणको कहते भये। हे नारद! ज्ञानावस्थामें जिस भूमा विषे भूमासे भिन्न द्रष्टव्य वस्तुको, अन्य करण करके, अन्य द्रष्टा, नहीं देखता है, तथा अन्य पदार्थोंको नहीं श्रवण करता है, तथा अन्य पदार्थोंको नहीं जानता है सोई भूमा है। अर्थात् सम्पूर्ण सांसारिक व्यवहाराभाव करके उपलक्षित जो वस्तु है सोई भूमा है। इस वचन करके सनत्कुमारने भूमाका अद्वितीयत्वरूप लक्षण बोधन किया है। और जहां अज्ञानावस्थामें अन्य द्रष्टा अन्य करण करके अन्य वस्तुको देखता है तथा श्रवण करता है

तथा जानता है सो सम्पूर्ण पदार्थ स्वप्नदृष्ट पदार्थोंकी तरह अविद्याके समकालभावि परिच्छिन्न हैं। और जो परिच्छिन्न हैं सो विनाशी हैं। और जो सुखरूप भूमा है सो अमृतरूप है अर्थात् अविनाशी है इति। यह भूमावाक्य 'भूमा संप्रसादादध्युपदेशात्' इस अधिकरणसूत्रका विषयवाक्य है।

अब संशयको दिखाते हैं—इस श्रुतिमें स्थित भूमा शब्द करके क्या प्राण ग्रहण करनेके योग्य है अथवा परमात्मा ग्रहण करनेके योग्य है। यह यहां संशय होता है इति।

अब इस संशयके कारणको दिखाते हैं—'भूमा' नाम बहुत्वका है क्योंकि 'बहोर्लोपो भू च बहोः' इस पाणिनिसूत्रसे 'बहु' शब्दके स्थानमें भू आदेश हुवा है। और 'बहु' शब्दसे उत्तर 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इस सूत्रसे इमनिच् प्रत्यय होता है। इमनिच् प्रत्ययका अर्थ भाव है। इस प्रकार भाव प्रत्ययान्त भूमा शब्द सिद्ध होता है। 'पूर्वोक्त बहुत्व किं स्वरूप है' ऐसी विशेष आकांक्षाके हुये 'प्राणो वा आशाया भूयान्' इति। इस मन्त्रको 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः' इस विषयवाक्यके समीपमें होनेसे 'प्राण जो है सो भूमा है' ऐसा प्रतीत होता है। और इस सप्तम अध्यायके आदिमें लिखा है—'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति। सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ् छोकस्य पारं तारयत्विति'। इस श्रुतिका अर्थ समीपमें ही कह आये हैं। इस प्रकार प्रथम प्रकरणका उत्थान होनेसे 'परमात्मा ही भूमा है' ऐसा प्रतीत होता है। अतः सन्निहित तथा व्यवहित प्रकरणरूप कारणोंसे 'तहां किसका उपादान न्याय्य है; और किसका हान न्याय्य है' यह संशय होता है इति।

यहां ऐसा जाननेको योग्य है कि—भूमा नाम लोकमें बहुत्वका है। अर्थात् व्यापकत्वका है। इससे यह संशय होता है कि-बहुत्वरूप भूमाका प्राण धर्मी है अथवा परमात्मा धर्मी है। और श्रुतिमें व भाष्यमें जो प्राणको तथा परमात्माको भूमा कहा है; सो भूमारूप धर्मके साथ प्राण अथवा परमात्मारूप धर्मीकी अभेद विवक्षा करके कहा है। अतः प्राणो भूमा, परमात्मा भूमा, यह सामानाधिकरण्य बन सकता है॥ प्रसङ्गमें क्या प्राप्त हुवा ऐसी आकांक्षाके हुये—

अथ पूर्वपक्ष। 'प्राणो भूमेति' इति भाष्यम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः' इस विषयवाक्यमें स्थित जो भूमा शब्द है तिस 'भूमा शब्द करके प्राणका ही ग्रहण करना परमात्माका नहीं। क्योंकि—'भूयःप्रश्नप्रतिवचनपरम्पराऽदर्शनात्' अर्थ—बहुत प्रश्नोत्तरके अनन्तर जब सनत्कुमारने प्राणका उपदेश नारदके प्रति किया है तदनन्तर नारदने महत्तर विषयक पुनः प्रश्न नहीं किया है। अतः जाना जाता है कि-प्राण ही निरतिशय सर्व महत्तर भूमा है इति।

अर्थात् 'नामोपास्स्व' 'नामकी उपासना करो' इस उपासककी नामकी

जितनी गति है उतनेमें अप्रतिहत गति होती है। इस प्रकार सनत्कुमारके उपदेश करने पर नारद बोले-'अस्ति भगवो नाम्नो भूयः' इति। अर्थ-हे भगवन्! नामसे बड़ा कौन है जिसको ब्रह्मरूप करके उपासना करें इति। इस प्रकार नारदके प्रश्न हुये सनत्कुमार कहते हैं:—'वाग् वाव नाम्नो भूयसी'। अर्थ—हे नारद! नामसे बड़ी वाक् है क्योंकि वाक् इन्द्रिय जिह्वामूलादिक अष्ट स्थानोंमें रहनेसे वर्णरूप नामका कारण है। और जो कारण होता है सो कार्यसे अधिकतर होता है। और वाक् इन्द्रियके विद्यमान हुये ही ऋग् वेदादिकोंका अध्ययन तथा वेदादिकोंके अर्थोंका ज्ञान होता है। और वाक् इन्द्रियके अभाव हुये वेदादिकोंका अध्ययन तथा वेदादिकोंके अर्थोंका ज्ञान होता नहीं। इस अन्वयव्यतिरेक करके भी नामसे उत्तम कारणरूप वाक् इन्द्रिय सिद्ध होता है। तिस वाक् इन्द्रियको ब्रह्मरूप करके उपासना करो इति। इस उपासककी वाणीकी जितनी गति है उतनेमें अप्रतिहत गति होती है। नारद-'अस्ति भगवो वाचो भूयः' इति। अर्थ—हे भगवन्! वाक् इन्द्रियसे अधिकतर कौन है जिसको ब्रह्मरूप करके उपासना करें इति। सनत्कुमार—'मनो वाव वाचो भूयः' इति। अर्थ—हे नारद! वाक् इन्द्रियसे बड़ा *विवक्षाबुद्धिरूप अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष मन है। क्योंकि वक्तव्य वस्तुविषयक वाक् इन्द्रियका प्रेरक मन है। और जैसे मुष्टिके अन्तर्गत दो आमलक बदर फल व विभीतक फल मुष्टि करके व्याप्त होते हैं; तैसे वाक् तथा नाम मन करके व्याप्त हैं अर्थात् मनके अन्तर्गत हैं। अतः वाक्से बड़ा मन है।

नारद—हे भगवन्! मनसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—सङ्कल्प मनसे बड़ा है। कर्तव्याकर्तव्य विवेकका नाम प्रकृतमें सङ्कल्प है। सर्व प्रपञ्च सङ्कल्पमय है। सङ्कल्पकी उपासना करो-इस उपासककी सङ्कल्पकी जितनी गति है उतनेमें अप्रतिहत गति होती है।

नारद—हे भगवन्! सङ्कल्पसे महत्तर श्रेष्ठ कौन है?

सनत्कुमार—चित्त सङ्कल्पसे बड़ा है। कर्तव्याकर्तव्य निरूपणसामर्थ्यका नाम प्रकृतमें चित्त है। विवेकका यह चित्त कारण है। चित्तके अधीन ही सङ्कल्पादिक प्रपञ्च है। चित्तकी उपासना करो-इस उपासककी चित्तकी जितनी गति है उतनेमें अप्रतिहत गति होती है। इसी प्रकार ध्यानादिकोंकी उपासनाका फल आगे भी जानना।

नारद—हे भगवन्! चित्तसे बड़ा कौन है?

---

* यह मन्त्र उच्चारण करनेको योग्य है तथा यह कार्य करनेको योग्य है इस प्रकारकी जो अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष है तिसका नाम विवक्षाबुद्धि है। इस विवक्षाबुद्धिसे अनन्तर मन्त्रका उच्चारण तथा कार्यको पुरुष करता है।

सनत्कुमार—ध्यान चित्तसे बड़ा है। एकाग्रतारूप ध्यान उक्त सामर्थ्यरूप चित्तका कारण है, अतः महत्तर है।

नारद—हे भगवन्! ध्यानसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—विज्ञान ध्यानसे बड़ा है। शास्त्रार्थनिश्चयका नाम विज्ञान है। यही एकाग्रतारूप ध्यानका कारण है।

नारद—हे भगवन्! विज्ञानसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—विज्ञानसे बड़ा बल है। शास्त्रार्थ प्रतिभानसामर्थ्यका नाम प्रकृतमें बल है। जब यह पुरुष बली होता है तब उठता है। उठकर गुरुकी सेवा करता है। शुश्रुषासे गुरुके अन्तरङ्ग होता है। अन्तरङ्ग होनेसे ही गुरुका द्रष्टा होता है। और कृपापात्र होता है। अथ श्रोता मन्ता होता है। तदनन्तर शास्त्रार्थ प्रतिभानरूप विज्ञानवाला होता है। पुनः शास्त्रार्थ कर्ता अर्थात् अनुष्ठाता होता है। जब अनुष्ठाता होता है तब स्वरूपानन्दका विज्ञाता अर्थात् अनुभविता होता है।

नारद—हे भगवन्! बलसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—अन्न बलसे बड़ा है, क्योंकि बलका कारण है।

नारद—हे भगवन्! अन्नसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—जल अन्नसे बड़ा है।

नारद—हे भगवन्! जलसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—तेज जलसे श्रेष्ठ है।

नारद—हे भगवन्! तेजसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—आकाश है।

नारद—हे भगवन्! आकाशसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—आकाशसे बड़ा स्मर (स्मृति) है। क्योंकि स्मृतिरूप ही आकाशादिक सर्व प्रपञ्च है।

नारद—हे भगवन्! स्मरसे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—स्मरसे बड़ी आशा है। क्योंकि आशारूप तृष्णा ही स्मृतिरूप प्रपञ्चकी कारण है।

नारद—हे भगवन्! आशासे बड़ा कौन है?

सनत्कुमार—'प्राणो वावाऽऽशाया भूयान्' आशासे बड़ा प्राण है। क्योंकि आशादिक सर्व जगत् प्राणरूप ही है। प्राणके विना आशादिक किसी वस्तुकी सिद्धि होती नहीं, अतः प्राण बड़ा है।

इस प्रकार नामसे लेकर प्राण पर्यन्त जैसा प्रश्न तथा प्रतिवचन (उत्तर)

का प्रवाह देखनेमें आता है। तैसे प्राणसे अनन्तर 'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः' इति। 'अदो वाव प्राणाद्भूयः' इति। 'हे भगवन्! प्राणसे बड़ा कौन है'? 'प्राणसे बड़ा अमुक है' इत्यादिक प्रश्न तथा प्रतिवचन देखनेमें नहीं आते हैं। इसलिये प्राण ही भूमा है इति।

शंका। इसी प्रकरणमें आगे श्रुतिमें कहा है— **'एष तु वा अतिवदति'** इति। इस श्रुतिमें जो 'तु' शब्द है तिस तु शब्द करके प्राणके प्रकरणका विच्छेद हो गया है अतः प्राण भूमारूप नहीं है।

समाधान। यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है क्योंकि **'प्राणमेव तु'** इत्यादि भाष्यम्। अथात्— नामसे लेकर वस्तुकी आकांक्षारूप आशा पर्यन्त जो वस्तु कहे हैं 'तिनोंसे अधिकतर प्राण ही है' इस अर्थको विस्तार पूर्वक 'प्राणो वाव आशाया भूयान्' इत्यादि पूर्व वाक्योंसे कहकर प्राणवित् पुरुषमें सनत्कुमारने अतिवादित्वको कहा है—एवं विजानन्नतिवादी भवति' इति। नामसे लेकर आशा पर्यन्त उपास्य वस्तुको उल्लंघन करके जो पुरुष नामादि आशान्त जगत्का विधारक प्राणको ही श्रेष्ठ जानकर कहता है तिस प्राणदर्शी पुरुषका नाम अतिवादी है। और तिस प्राणवित् पुरुषके प्रति जब कोई पूछे कि-तू अतिवादी है? तब वह कहे कि—हम अतिवादी हैं। 'मैं अतिवादी नहीं हूं' ।ऐसा निषेध न करे। इस प्रकार प्राणवित्में अतिवादित्वको स्वीकार करके पुनः आगे सनत्कुमार कहते हैं—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' 'यह ही पुरुष अतिवादी है जो सत्यका अनुभव करके कहता है' इति। इस मन्त्रमें जो 'एष' शब्द है तिस एष शब्दसे प्राणवित् पुरुषका परामर्श करके, और अर्थसे अतिवादित्वरूप प्राणके व्रतको आकर्षण करके, तथा प्राणको त्याग न करके; सनत्कुमारजीने अपनेमें **'सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानि'** इस वचनसे सत्यके बलसे अतिवादित्वको प्रगट किया है। और सत्यको विशेष करके विजिज्ञासितव्य बतलाया है। पुनः आगे नारद प्रश्न करते हैं—

नारद—**'सत्यं भगवो विजिज्ञासे'** हे भगवन्! मैं सत्यकी विजिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार—सत्यविज्ञानकी तुमको विजिज्ञासा करनी चाहिये, क्योंकि सत्यविज्ञानसे ही सत्यवक्ता होता है। सत्यविज्ञानके विना सत्यवक्ता नहीं होता। अतः विज्ञानकी जिज्ञासा करो।

नारद—हे भगवन्! सत्यविज्ञानकी मैं जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार—मनन सत्यविज्ञानका हेतु है। मनन के विना सत्यविज्ञान नहीं होता है अतः मननकी जिज्ञासा करो।

नारद—हे भगवन्! मननकी जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार—श्रद्धासे मनन होता है। श्रद्धाके विना होवे नहीं, अतः श्रद्धाकी जिज्ञासा करो।

नारद—हे भगवन्! श्रद्धाकी जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार—निष्ठा अर्थात् सत्यविज्ञानके लिये गुरुशुश्रूषामें तत्परता श्रद्धाकी हेतु है। निष्ठाके विना श्रद्धा होवे नहीं, अतः निष्ठाकी जिज्ञासा करो।

नारद—हे भगवन्! निष्ठाकी जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार—कृति अर्थात् इन्द्रियोंका संयम व चित्तकी एकाग्रता निष्ठामें हेतु है। कृतिके विना निष्ठा होवे नहीं, अतः कृतिकी जिज्ञासा करो।

नारद—हे भगवन्! कृतिकी जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार—सुखकी विजिज्ञासा करो। क्योंकि सुखकी इच्छासे ही करता है। सुखकी इच्छाके विना कुछ नहीं कर सकता है, अतः सुखकी विजिज्ञासा करो।

नारद—हे भगवन्! सुखकी जिज्ञासा करता हूं।

सनत्कुमार—**'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति'**। अर्थ—जो भूमा है सो सुखरूप है। अल्प वस्तुमें सुख नहीं है। भूमा ही सुखरूप है। भूमाकी ही जिज्ञासा करनी चाहिये इति।

नारद—हे भगवन्! भूमाकी विजिज्ञासा करता हूं। इस प्रकार सत्यादि परम्परा करके अनन्तर सनत्कुमारजीने नारदके प्रति भूमाका अवतरण किया है। अतः प्राणके प्रकरणका विच्छेद नहीं हो सकता है। किन्तु प्राणका ही प्रकरण है। अतः प्राणप्रकरणके विच्छेद न होनेसे 'प्राणको ही सनत्कुमार भूमा मानते हैं' यह निश्चय होता है।

शंका। सत्यकी विजिज्ञासा द्वारा सत्य, विज्ञान, मनन, श्रद्धा, निष्ठा, कृति व सुखकी परम्परा करके भूमाका अवतरण होनेसे भूमा अनृत प्राणरूप नहीं हो सकता है। अतः प्राणप्रकरणका विच्छेद अवश्य मानना चाहिये?

समाधान। 'प्राणो वै सत्यः' इत्यादि श्रुतियोंमें प्राणमें भी सत्यता प्रसिद्ध है। अतः सत्य शब्दसे भी प्राणप्रकरणका विच्छेद नहीं बन सकता है। अतः प्राण ही भूमा है यह सिद्ध हुवा इति।

शंका। प्रसङ्गमें प्राणरूप भूमाका ग्रहण करोगे तो 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' यह जो भूमाके लक्षणका प्रतिपादक वचन है; तिसका प्राणमें समन्वय किस प्रकार होगा?

समाधान। सुषुप्ति अवस्थामें चक्षुरादिक इन्द्रियोंके प्राणमें लीन हुये 'सुषुप्त पुरुष न देखता है' 'न श्रवण करता है' इस प्रकार सर्वको दर्शनादिक व्यवहारका अभाव देखनेमें आता है। अतः 'नान्यत्पश्यति' इत्यादिक लक्षण प्राणमें

घट सकता है। तहां प्रश्नोप० श्रुतिः -'न शृणोति न पश्यति' इत्यादिक वचनोंसे सर्व करणोंके व्यापारका विलयरूप सुषुप्ति अवस्थाको कहकर 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति' "तिस पुर्वोक्त सुषुप्ति अवस्थामें पञ्च वृत्तिवाला प्राण ही जागता है" इस प्रकारसे प्राणके जागरणको कहती हुई सुषुप्ति अवस्थामें प्राणकी प्रधानताको दिखाती है। इस पूर्वोक्त रीतिसे श्रुतिने प्राणमें ही भूमाका जो सर्वव्यवहाराभाव करके उपलक्षित अद्वितीयत्व लक्षण है सो बोधन किया है इति।

अब भूमामें जो सुखरूपत्व श्रवण होता है—'यो वै भूमा तत्सुखम्' इति। सो भी प्राणमें बन सकता है। इस अर्थको पूर्वपक्षी प्रतिपादन करता है। तहां-प्रश्नोप० श्रुतिः—अत्रैषो देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथैतस्मिञ्छरीर एतत्सुखं भवति। अर्थ—जिस अवस्थामें बुद्ध्यादि उपाधिवाला जीव अविद्योपहित चिद्रूपतेज करके अभिभूत होता है इस सुषुप्ति अवस्थामें यह जीवरूप देव; स्वप्नरूप देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिक पदार्थोंको नहीं जानता है। और तिस अवस्थामें जो सुख होता है सो इस कारण शरीरमें होता है इति। सो यह सुख भी प्राणका ही है, क्योंकि सुषुप्तिमें ही सुखका श्रवण है; और सुषुप्तिमें प्राण ही प्रधान है इति।

शंका। भूमामें अमृतत्वका श्रवण होता है 'यो वै भूमा तदमृतम्' अतः प्राणसे भिन्न ही भूमाको कहना चाहिये। क्योंकि प्राण अल्प है 'यदल्पं तन्मर्त्यम्' 'जो अल्प होता है सो नाशवान् होता है' और भूमा नाशरहित है। अतः प्राण भूमा नहीं हो सकता है।

समाधान। सो कहना भी बने नहीं क्योंकि 'प्राणो वा अमृतम्' इस कौषीतकि-श्रुतिप्रमाणसे प्राणमें भी अमृतत्वकी सिद्धि हो सकती है, अतःप्राण भूमारूप हैं इति।

शंका। जो प्राणको भूमा माननेवाले हैं उनके मतमें 'तरति शोकमात्मवित्' यह जो आत्माको जाननेकी इच्छा करके प्रकरणका उत्थान हुवा है। सो प्राणमें किस प्रकार उपपन्न होगा?

समाधान। सो कहना भी असङ्गत है क्योंकि 'आत्मशब्द करके यहां प्राण ही विवक्षित है' ऐसा हम कहते हैं। तहां श्रुति-'प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता' इत्यादि। अर्थ—प्राण ही पितारूप है, तथा माता, भ्राता, स्वसा, आचार्य्य तथा ब्राह्मण यह सर्व प्राणरूप ही हैं इति। यह श्रुति प्राणको ही सर्वका आत्मारूप स्वीकार करती है। और 'यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितम्'। अर्थ—जैसे नाभिमें अरा स्थित हैं तैसे प्राणमें सम्पूर्ण जगत् स्थित है। गाड़ीके पहियामें जो टेढे २ काष्ठ हैं तिनका नाम अर है, बीचमें जो स्थूल तथा गोल काष्ठ है तिसका नाम नाभि है इति। यह श्रुति प्राणमें ही सर्व जगत्के अधिष्ठान-

त्वको कहती है। इस पूर्वोक्त रीतिसे सर्वात्मत्व तथा अरनाभिके दृष्टान्तसे विस्तृतत्व रूप भूमस्वरूपता प्राणमें भी बन सकती है। अतः प्राण ही भूमारूप है इति।

अथ **सिद्धान्तपक्षः**! प्रसङ्गमें भूमा शब्द करके 'परमात्माका ही ग्रहण करना योग्य है प्राणका नहीं' इस अर्थको व्यास भगवान् दिखाते हैं:—

भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

अर्थ—१ भूमा, २ संप्रसादात्, ३ अध्युपदेशात्। इस सूत्रमें तीन पद हैं। इस भूमविद्यामें भूमा परब्रह्म ही होनेको योग्य है; क्योंकि जिस अवस्थामें भली प्रकार प्रसन्नताको अर्थात् आनन्दको संसारी जीव प्राप्त होवें तिसका नाम संप्रसाद है। इस निर्वचनसे, और बृहदारण्यकमें स्वप्न व जागरण अवस्थाके साथ पाठ होनेसे, यहां संप्रसाद शब्दका वाच्य अर्थ सुषुप्ति स्थान है। और तिस सुषुप्ति स्थानमें प्राण जागता है। अतः जागनेवाला प्राण यहां लक्षणावृत्तिसे सम्प्रसाद अभिप्रेत है। तथा च प्राणरूप संप्रसादसे आगे भूमाका उपदेश होनेसे भूमा परमात्मास्वरूप ही है प्राणस्वरूप नहीं इति।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—**'प्राण एव चेद्भूमा स्यात्'** इत्यादि। यदि पूर्वपक्षी कहे कि—'प्राण ही भूमा' है तो सनत्कुमारने नारदके प्रति 'प्राणसे आगे प्राणका ही उपदेश किया है' ऐसा कहना होगा सो अत्यन्त असङ्गत है। क्योंकि नामसे आगे नामका उपदेश नहीं किया है। किन्तु नामसे भिन्न वाक् इन्द्रियका उपदेश किया है। इसी प्रकार वाक् इन्द्रियसे लेकर प्राण पर्यन्त वाक् इन्द्रियादिकोंसे भिन्न २ अर्थका ही तहां २ आगे उपदेश किया है। जब प्रत्येक प्रश्न व प्रतिवचनमें भिन्न २ ही अर्थको कहा है तब प्राणसे आगे उपदिश्यमान भूमाको भी प्राणसे भिन्न परमात्मास्वरूप ही कहना होगा इति।

शंका। 'अस्ति भगवः प्राणाद्भूयः' इति। हे भगवन्! प्राणसे बड़ा कौन है। 'प्राणाद्दो वाव भूयोऽस्ति' इति। प्राणसे बड़ा अमुक है। इस प्रकारका जब यहां प्राण उपदेशके आगे प्रश्न तथा प्रतिवचन देखनेमें नहीं आता है तब किस प्रकार प्राणसे भिन्न भूमाका उपदेश बन सकता है? अर्थात् नहीं बन सकता है। और प्राणके उपदेशसे उत्तर भागमें 'प्राण ही श्रेष्ठ है' इस प्रकारका कथनरूप जो प्राण विषयक अतिवादित्व है तिसका अनुकर्षण भी देखनेमें आता है—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति'। और इस मन्त्रमें जो 'एष' शब्द है तिस एष शब्द करके प्राणवित्का ही परामर्श होता है। अतः प्राणसे आगे प्राणसे भिन्न भूमाका उपदेश नहीं है किन्तु प्राण ही भूमास्वरूप है इति।

समाधान। 'एष तु वा अतिवदति' यहां 'एष' शब्द जो है सो 'यः सत्येनातिवदति' इस मन्त्रमें स्थित 'यत्' शब्दके परतन्त्र होनेसे सत्यवादीको ही बोधन करता है प्राणवित्को नहीं, अतः नामादिके प्रकरणकी तरह प्राणके प्रकरणका विच्छेद होनेसे

प्राण भूमा नहीं है। इस अर्थको भगवान् भाष्यकार दिखाते हैं—'अत्रोच्यते' इत्यादि भाष्यम्। यहां 'एष' शब्द करके प्राणवित्का व 'अतिवदति' शब्द करके प्राणविषयक अतिवादित्वका अनुकर्षणको नहीं कह सकते हैं। क्योंकि 'यः सत्येनातिवदति' 'जो सत्य करके कहता है सो अतिवादी हैं' इस विशेषवादको होनेसे सत्यवक्ता ही यहां अतिवादी है प्राणवित् नहीं।

शंका। 'एष तु वा अतिवदति' इस मन्त्रसे प्राणवित् पुरुषका अनुवाद करके 'यः सत्येनातिवदति' यह मन्त्र प्राणवित् पुरुषमें सत्य वदनरूप धर्मको विधान करता है। अतः प्राणके प्रकरणका विच्छेद नहीं बन सकता है। इस अर्थको अब दृष्टान्तपूर्वक वादी कहता है-सत्यवदनरूप विशेषवाद भी प्राणविषयक ही बन सकता है। क्योंकि जैसे किसीने कहा कि-'जो पुरुष सत्य कथन करता है सो अग्निहोत्री हैं'। यहां पुरुषमें सत्य भाषण करके अग्निहोत्रित्वको सिद्धि नहीं होती है। किन्तु अग्निहोत्र करके ही अग्निहोत्रित्वकी सिद्धि होती है। और सत्य भाषण अग्निहोत्रीका केवल धर्मविशेष कहा जाता है। तैसे ही प्रकृतमें सत्यवदन करके पुरुषमें अतिवादित्व नहीं सिद्ध होता है। किन्तु प्रकृत प्राणविषयक श्रेष्ठत्वविज्ञान करके ही अतिवादित्व सिद्ध होता है। और सत्यवदन जो है सो केवल प्राणवित् पुरुषका विशेषधर्म विवक्षित है। इस पूर्वोक्त रीतिसे प्राणप्रकरणका विच्छेद न होनेसे प्राण ही भूमा है इति।

समाधान। यह पूर्वपक्षीका कहना असङ्गत है क्योंकि ऐसा माननेसे श्रुतिके अर्थका परित्याग होगा। इस अर्थको दिखाते हैं—'श्रुत्या ह्यत्र' इत्यादि भाष्यम्। 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इस श्रुतिसे 'सत्यवदन करके ही अतिवादित्वरूप' जो श्रुतिका अर्थ यहां प्रतीत होता है सो त्यक्त हो जावेगा। अर्थात् नामादिक उपासकोंकी अपेक्षासे प्राणवादीमें 'एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीतेति'। यह श्रुति अतिवादित्वको स्वयं स्वीकार करती है। परन्तु निरपेक्ष अतिवादित्व तो सत्यविज्ञान करके ही होता है प्राणविज्ञान करके नहीं—इस अथको बोधक 'एष तु वा अतिवदति' यह श्रुति है। और 'यः सत्येनातिवदति' इस वाक्यमें प्राणविषयक विज्ञानका संकीतन भी नहीं है। अतः प्राणवित्में अतिवादित्व नहीं बन सकता है। यदि प्रकरणसे प्राणवित्में अतिवादित्वके लिये प्राणविषयक विज्ञानका अनुकर्षण करोगे तो श्रुत्यर्थका त्याग होनेसे श्रुति भी त्याग करनेको योग्य हो जायेगी यह भी वादीके मतमें दोष होगा। और ब्रह्मविज्ञानकरणक श्रुतिसिद्ध जो अतिवादित्व है तिसका प्रकरण करके बाध नहीं हो सकता; किन्तु 'सत्येन' इस तृतीया श्रुति करके प्रकरणका बाध ही युक्त है। और प्रसङ्गमें, प्राणप्रकरणकी व्यावृत्ति है अर्थ जिसका ऐसा जो 'एष तु वा अतिवदति' इस श्रुतिमें 'तु' शब्द है सो भी प्राणप्रकरणके स्वीकार करनेसे समीचीन नहीं होगा। अतः तु शब्द करके

भी प्राणप्रकरणका बाध होता है; इस पूर्वोक्त रीतिसे प्राणसे भिन्न भूमा है यह सिद्ध हुवा इति।

अब जिज्ञासारूप लिङ्ग करके भी प्राणसे भिन्न परमात्मा स्वरूप ही भूमा है इस अर्थको दिखाते हैं—'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्'। अर्थ—हे नारद! प्राणवित्में जो अतिवादित्व है सो नामादिकोंकी अपेक्षा करके है निरङ्कुश अतिवादित्व नहीं है। सर्वातिक्रान्त भूमारूप परमार्थसत्यवादीमें ही निरङ्कुश अतिवादित्व है। अतः सत्य ही जिज्ञासा करनेको योग्य है इति। जैसे एक वेदवित्की प्रशंसाके प्रकरणमें 'एष तु महाब्राह्मणो यश्चतुरो वेदानधीते' इति यहां एक वेदवित्से भिन्न चतुर्वेदवित्की प्रशंसा है, तैसे प्रसङ्गमें यह जिज्ञासा भी प्राणसे भिन्न भूमाकी ही है। ऐसा मानना योग्य है। अन्यथा सत्यविषयक जिज्ञासा, और जिज्ञासामें कर्तव्यताबोधानुकूल सनत्कुमारका प्रयत्न व्यर्थ होगा। क्योंकि प्राणबोधानुकूल प्रयत्न प्रथम हो चुका है। अतः यह जो पुनः प्रयत्न है सो प्राणसे भिन्न परम उत्कृष्ट सत्य स्वरूप परमेश्वरकी विवक्षाको सूचन करता है।

शंका। प्रश्नके भेदसे अर्थका भेद होता है क्योंकि नामादिके उपदेशमें प्रश्नके भेदसे अर्थका भेद देखा गया है। और प्राणके उपदेशसे आगे प्रश्न है नहीं, अतः प्राणसे भिन्न भूमाकी विवक्षा करके उपदेश नहीं बन सकता।

समाधान। यह वादीका कहना असङ्गत है। क्योंकि 'अर्थके भेदका प्रयोजक प्रश्नका भेद ही होना चाहिये' यह नियम नहीं है किन्तु प्रकृत अर्थके सम्बन्धका असम्भव अर्थभेदकी विवक्षाका प्रयोजक है। जैसे मैत्रेयीआदिकोंने एक आत्मरूप अर्थमें अनेक प्रश्न किये हैं। तहां प्रश्नके भेद हुये भी अर्थका भेद नहीं होता है। और प्रश्नसे विना ही चतुर्वेदवित्में प्रकृत एक वेदवित्का भेद कह आये हैं। तैसे ही प्रश्नसे विना भी प्रकृत प्राणरूप अर्थके साथ 'एष तु' इत्यादि ग्रन्थका सम्बन्धके असम्भव होनेसे प्राणसे भिन्न भूमा ही यहां उपदिष्ट है इति।

शंका। 'नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात्' इत्यादि स्मृतिसे प्रश्नके विना उपदेश अयुक्त है?

समाधान। 'अनधिकारीको उपदेश नहीं करना' इस अर्थकी बोधक यह स्मृति है। परन्तु "जिज्ञासु शिष्य तो प्रश्न न भी कर सके तौ भी गुरुको उपदेष्टव्य है" इस अर्थकी सूचक 'एष तु वा अतिवदति' यह श्रुति है। क्योंकि तहां सनत्कुमार करके उक्त प्राण पर्यन्त उपदेशको श्रवण करके तुष्णींभावको प्राप्त जो नारद है तिसको सनत्कुमार स्वयं व्युत्पन्न करते हैं—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति। अर्थात् नारदके प्रति सनत्कुमारने कहा कि—हे नारद! विकार तथा मिथ्यारूप जो प्राण है तिस प्राणविषयक विज्ञान करके जो अतिवादित्व है सो अनतिवादित्वरूप ही है। किन्तु जो सत्यविषयक ज्ञान करके अतिवादित्व

है, तिसका नाम ही अतिवादित्व है इति। प्रसङ्गमें सत्य शब्दका अर्थ परमार्थरूप होनेसे परब्रह्म ही है प्राण नहीं। क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुत्यन्तरसे सत्यरूप परब्रह्म ही प्रसिद्ध है। और इस उपदेश करके व्युत्पन्न जो नारद है। अर्थात् सत्यविषयक ज्ञान करके कथन करनेकी इच्छावाला जिज्ञासु हुवा पुनः श्रवणके लिये प्रवृत्त जो नारद है। तिसके प्रति निदिध्यासनरूप विज्ञान तथा मनन व श्रद्धा आदिक साधनपरम्पराका विधान करते हुये सनत्कुमारने भूमाका उपदेश किया है। तहां प्राणसे आगे 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' इस प्रतिज्ञाका विषय जो वक्तव्य सत्य वस्तु है सोई यहां भूमा है ऐसा निश्चय होता है। अतः प्राणसे आगे भूमाका उपदेश विद्यमान है। इसलिये प्राणसे भिन्न परमात्मा ही भूमा होनेको योग्य है इति।

किञ्च **'सन्निहितादपि व्यवहितं साकाङ्क्षं बलीयः।'** अर्थः—निराकाङ्क्ष अव्यवहितसे भी आकाङ्क्षावाला जो व्यवहित है सो बलवान् होता है इति। इस न्याय करके यद्यपि भूमावाक्यके समीपमें प्राण है तथापि निराकांक्ष प्राणको स्थित देखकर उपक्रममें स्थित जो आत्म शब्द है सो अपनेको प्रतिपादन करनेके लिये भूमावाक्यकी अपेक्षावाला है अतः बलवान् है। इस रीतिसे प्रसङ्गमें आत्माकी विविदिषा करके जो प्रकरणका उत्थान हुवा है सो भी समीचीन होवेगा। और जो वादीने प्रथम कहा था कि—यहां प्राण ही आत्मा विवक्षित है। सो भी वादीका कहना उपपन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि परिच्छिन्न प्राणमें मुख्य वृत्ति करके व्यापकत्वरूप आत्मत्व नहीं रह सकता है इसलिये प्राण आत्मा नहीं है। किञ्च प्रत्यग् अभिन्न परमात्माके ज्ञानसे विना शोककी निवृत्ति भी नहीं बन सकती है। क्योंकि **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** यह अन्य श्रुति शोककी निवृत्तिरूप मोक्षके लिये ज्ञानसे भिन्न अन्य उपायोंको निषेध करती है। और **'तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु'** ऐसा उपक्रम करके **'तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः'** ऐसा उपसंहार किया है। यहां 'तम' नाम अविद्याका है। और जन्म मरणादिरूप शोकका मूल कारण अविद्यारूप तमके नाश विना शोकका तरणा शक्य है नहीं। अतः तिस तमका निवर्तक ज्ञानगम्यत्वरूप लिङ्गसे आत्मा ब्रह्मरूप ही है प्राणरूप नहीं। और 'आत्मतः प्राणः' 'आत्मासे प्राणादिक सर्व उत्पन्न हुवा है' इत्यादिक जो ब्राह्मणभाग है सो 'प्राणादिक सर्व प्रपञ्च आत्माके अधीन है' इस अर्थको बोधन करता है, प्राण ही यदि इस प्रकरणमें अनुशासनका विषय होता तो प्राणमें अन्य (आत्मा) अधीनता नहीं कहते। अतः प्राण भूमा नहीं।

शंका। प्रकरणके अन्तमें परत्मामाकी विवक्षा रहो। इससे प्रथम उक्त जो भूमा है सो प्राण ही है?

समाधान । यह भी वादीका कहना असङ्गत है क्योंकि—**'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि'** इति । अर्थ—नारद पूछता है—हे भगवन् ! 'स' पूर्वोक्त भूमा किसमें स्थित है ? सनत्कुमारने कहा कि-स्वरूपभूत अपनी महिमामें स्थित है । इत्यादिक मन्त्र करके प्रथमसे लेकर प्रकरणकी समाप्ति पर्यन्त भूमाका ही अनुकर्षण है । और सर्व जगतके कारण परमात्मामें ही निरपेक्ष विस्तृतत्वरूप भूमरूपता बन सकती है परिच्छिन्न प्राणमें नहीं । अतः परमात्मा ही भूमा है प्राण नहीं यह सिद्ध हुवा इति । यहां पूर्वपक्षमें प्राणकी उपासना फल है, और सिद्धान्तमें ब्रह्मज्ञान फल है इति ॥ ८ ॥

पुनः भूमामें ब्रह्मत्वके बोधक लिङ्गान्तरको सूत्रकार दिखाते हैं:—

धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

अर्थ—१ धर्मोपपत्तेः, २ च । इस सूत्रमें दो पद हैं । सत्यत्व, स्वमहिमप्रतिष्ठितत्व, सर्वगतत्व, सर्वात्मत्वादिक जो भूमामें श्रूयमाण धर्म हैं सो परमात्मामें ही बन सकते हैं अन्यमें नहीं, अतः भूमा परमात्मा स्वरूप ही है यह सिद्ध हुवा इति ।

अब इस सूत्रके तात्पर्यको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—**'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा'** इत्यादिक श्रुतिने जो भूमामें दर्शनादिक व्यवहाराभावको बोधन किया है सो दर्शनादिक व्यवहाराभावरूप धर्म परमात्मामें निश्चित है । और बृहदारण्यकमें भी लिखा है—**'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् ।'** अर्थ—जिस अवस्थामें इस विद्वान्‌को संपूर्ण जगत् आत्मा ही हो गया तिस अवस्थामें किस करण करके किस विषयको देखे इति । और जो सुषुप्ति अवस्थामें दर्शनादिक व्यवहाराभावको श्रुतिने कहा है सो भी आत्मामें ही असङ्गत्वकी विवक्षा करके कहा है, प्राणके स्वभावकी विवक्षा करके नहीं । क्योंकि परमात्माका ही यह प्रकरण है। अर्थात् बुद्धि आदिक उपाधिके विद्यमान हुये आत्मामें द्रष्टृत्वादिक धर्म हैं । और सुषुप्तिमें बुद्धि आदिक उपाधिके अभाव हुये द्रष्टृत्वादिक धर्मोंका अभाव है । इस प्रकार आत्मामें असङ्गत्व ज्ञानके लिये प्रश्नोपनिषद्में आत्माको प्रसङ्गमें प्राप्त करके 'न शृणोति न पश्यति' इत्यादिक मन्त्रों करके दर्शनादिक व्यवहारके अभावरूप धर्मको कहा है।

और जो सुषुप्ति अवस्थामें सुख कहा है सो भी आत्मामें ही सुख स्वरूपत्वकी विवक्षा करके कहा है । तहां बृहदारण्यक श्रुतिः—**'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।'** अर्थ—इस सुषुप्त पुरुषका ही स्वरूपानुभवरूप जो आनन्द है सो 'परम' कहिये साधन करके असाध्य है, निरतिशय

है। और इस ब्रह्मानन्दकी ही मात्रा कहिये लेशरूप कलाको अर्थात् इन्द्रिय और विषयके सम्बन्ध कालमें प्रतीयमान सुखको ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त प्राणी भोगते हैं इति। और यहां छान्दोग्यमें भी कहा है—'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्'। यह मन्त्र भी नाशादिक दोषरूप आमय करके सहित जो सामय सुख है तिस सामय सुखका निराकरण पूर्वक ब्रह्म ही सुखरूप भूमा है इस अर्थको दिखाता है। और 'यो वै भूमा तदमृतम्' इस मन्त्रमें श्रूयमाण जो नित्यत्वरूप अमृतत्व है सो भी परम कारण ब्रह्ममें ही बन सकता है अन्यमें नहीं। अतः अमृतत्व भी परम कारणका ही बोधक है क्योंकि प्राणादिक विकारोंमें जो अमृतत्व है सो आपेक्षिक तथा विनाशी है। अतः जो वादीने पूर्व कहा था कि—'प्राणो वा अमृतम्' इस ब्राह्मणभाग करके प्राणमें अमृतत्व सिद्ध है; सो सापेक्षिक अमृतत्व है इसलिये विरोध नहीं। तथा 'अतोऽन्यदार्तम्' यह श्रुति भी आत्मासे भिन्नमें नश्वरत्वको बोधन करती है। इस पूर्वोक्त रीतिसे 'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' इस मन्त्रमें श्रूयमाण जो सत्यत्व है; तथा 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' इस मन्त्रमें श्रूयमाण जो स्वमहिमप्रतिष्ठितत्व है; तथा 'स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्' इस मन्त्रमें श्रूयमाण जो सर्वगतत्व है; तथा 'स एवेदं सर्वम्' 'अहमेवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' इन मन्त्रोंमें श्रूयमाण जो सर्वात्मत्व है सो सम्पूर्ण धर्म परमात्मामें ही बन सकते हैं, परमात्मासे भिन्न प्राणादिकोंमें नहीं। अतः भूमाध्याय निर्गुण ब्रह्ममें समन्वित हुवा ऐसा जानना इति ॥ ६ ॥

इति भूमाधिकरणं समाप्तम्।

भूमामें श्रुत जो सत्यत्वादिक धर्म हैं तिन धर्मोंकी परमात्मामें ही उपपत्ति होनेसे 'भूमा ब्रह्मरूप है' ऐसा पूर्व अधिकरणमें कहा है। इसी न्यायसे अक्षरमें श्रुत जो जगत्का विधारण है तिसको भी परमात्मामें ही उपपन्न होनेसे अक्षर परब्रह्म ही है। इस अर्थको व्यास भगवान् अब दिखाते हैं—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥

अर्थ—१ अक्षरम्, २ अम्बरान्तधृतेः। इस सूत्रमें दो पद हैं। 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' इस श्रुतिमें पृथिवीसे लेकर अव्याकृतरूप आकाश पर्यन्त जगत्के धारणका अक्षरमें श्रवण होनेसे यहां 'अक्षर' शब्द करके परमात्माका ही ग्रहण करना, वर्णका नहीं। क्योंकि वर्णरूप अक्षरमें जगत्का विधारकत्व नहीं बन सकता है इति। अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—बृहदारण्यकके तृतीय अध्यायमें लिखा है कि—

जनककी सभामें उद्दालक ऋषिके शास्त्रार्थसे उपरत होनेके अनन्तर याज्ञवल्क्यके वचनरूपी शाप करके शिर गिरनेके डरसे भयभीत हुई गार्गी याज्ञवल्क्यसे पुनः प्रश्न करनेकी इच्छा करके ब्राह्मणोंकी अनुमति लेनेके लिये सभामें कहने लगी—हे भगवन्त ! मैं इस याज्ञवल्क्यसे दो प्रश्न पूछना चाहती हूं। इन दो प्रश्नोंके उत्तरको यदि याज्ञवल्क्य दे देगा तो आप लोगोंमेंसे इस ब्रह्मवादीको कोई भी नहीं जीत सकेगा।

ब्राह्मण— पृच्छ गार्गि !

इस प्रकार ब्राह्मणोंकी अनुमतिको लेकर गार्गी याज्ञवल्क्य ऋषिसे कहने लगी—हे याज्ञवल्क्य ! जिस प्रकार काशीराज अथवा वैदेह धनुष्के उपर दो भयङ्कर बाणोंको चढ़ाकर शत्रुके सन्मुख खड़ा होवे, इसी प्रकार मैं भी दो प्रश्न-रूपी बाणोंसे तुमको परास्त करनेके लिये खड़ी हुई हूं। इन मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो।

याज्ञवल्क्य—पृच्छ गार्गि !

तब गार्गीने याज्ञवल्क्यसे प्रश्न किया—हे याज्ञवल्क्य ! द्युलोकसे उपर २ जो कुछ वस्तु है, और पृथिवीलोकसे नीचे २ जो कुछ है, और पृथिवी व स्वर्गके बीच अन्तरिक्षमें जो कुछ है, और स्वर्ग व पृथिवी और भूत भविष्यत् वर्तमान जो कुछ प्रपञ्च है, यह सर्व किसमें ओतप्रोत है अर्थात् किसके आश्रित है ?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि ! यह जो तुमने द्युलोकसे उपर इत्यादि जो कुछ जगत् कहा है सो सर्व स्थूल सूक्ष्म विराट् हिरण्यगर्भरूप जगत्; जैसे यह पृथिवी, उत्पत्ति स्थिति लय तीनों कालमें जलमें ओतप्रोत है इसी प्रकार, आकाश (साभास माया)में ओतप्रोत है।

गार्गी—हे याज्ञवल्क्य ! तुम्हारेको मैं नमस्कार करती हूं। क्योंकि आपने मेरे इस प्रश्नका उत्तर ठीक दिया है। अब मैं दूसरा प्रश्न करती हूं सो तुम दृढ़ हो जावो।

याज्ञवल्क्य—पृच्छ गार्गि !

गार्गी—हे याज्ञवल्क्य ! द्युलोकसे उपर जो कुछ है और पृथिवी लोकसे नीचे जो कुछ है, यह पूर्वोक्त सम्पूर्ण जगत् किसमें ओतप्रोत है। इस प्रश्नका उत्तर जो तुमने सम्पूर्ण जगत्का आधार आकाशको कहा है। क्या केवल आकाश ही इस स्थूल सूक्ष्म जगत्का आधार है अथवा और भी कोई आधार है ? यह पुनः प्रश्न उक्त अर्थके अवधारणके लिये है, और कुछ अपूर्व अर्थ इस प्रश्नमें नहीं है।

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि ! सम्पूर्ण स्थूल सूक्ष्म प्रपञ्चका आधार आकाश ही है, आकाशसे दूसरा नहीं है। इसके अनन्तर गार्गिने पुनः याज्ञवल्क्य मुनिके

प्रति पूछा है कि—हे मुने ! 'कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च *प्रोतश्चेति' ? 'स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु' (बृ०) इत्यादिक श्रवण होता है। यह मन्त्र इस अधिकरणका विषयवाक्य है। अर्थ—ब्रह्माण्डका उपरला कटाहरूप जो स्वर्गलोक है तिससे उपर जो लोक हैं, तथा ब्रह्माण्डका निचला कटाहरूप जो यह पृथिवी है इसके अधोभागमें जो लोक हैं, तथा स्वर्ग और पृथिवी तथा दोनोंके अन्तर जो लोक हैं। तथा भूत, वर्तमान, भविष्यत् अर्थात् हिरण्यगर्भ पर्यन्त कार्यमात्र सम्पूर्ण जगत् जिस अव्याकृतरूप आकाशमें अर्थात् मायाशबल ईश्वरमें ओतप्रोत है सो अव्याकृतरूप आकाश किसमें ओतप्रोत है ? इस गार्गीके द्वितीय प्रश्नको श्रवण करके याज्ञवल्क्यने कहा कि—हे गार्गि ! यह अव्याकृतरूप आकाश अक्षरमें ओतप्रोत है इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ पुरुष कहते हैं। अथवा वेद कहता है। और यह अक्षर कैसा है—स्थूलसे भिन्न अस्थूल है। तथा अणुसे भिन्न अनणु है। और न ह्रस्व है। न दीर्घ है। न लोहित है। न स्नेह है। न छाया है। न तम है। न वायु है। न आकाश है। और न सङ्ग सम्बन्ध है। अर्थात् संसर्गरहित है। न रस है। न गन्ध है। और न चक्षु है। न श्रोत्र है। न वाक् है। न मन है। न तेज है। न प्राण है। न मुख है। न हस्तपादादिरूप है। और मात्रारूप परिच्छेद शून्य है। और च्छिद्ररहित है अर्थात् अन्तर रहित है। और बाह्यरहित है। और सो अक्षर किसीको भक्षण नहीं करता है। न इस अक्षरको कोई भक्षण करता है। भोक्तृत्व भोग्यत्व रहित है। अर्थात् इस मन्त्रसे अक्षरमें स्थूलत्व अणुत्व ह्रस्वत्व दीर्घत्वादिक उक्त अनुक्त सर्व जगत्के अत्यन्ताभावको श्रुति बोधन करती है। और सम्पूर्ण वस्तुवोंके ध्वंसका व प्रागभावका निषेध भी अर्थसे सिद्ध होता है। तथा च जिसमें आकाश ओतप्रोत है सो अक्षर सम्पूर्ण भावाभावविनिर्मुक्त है यह सिद्ध हुवा। एवं च इस अक्षरकी वेदजन्य प्रतिपत्तिको विद्यमान होनेसे अप्रतिपत्ति नहीं है। और ब्रह्ममें वाच्यत्वके अस्वीकारसे, और लक्षणावृत्ति करके व उपलक्षणन्याय करके पुरुषमें उपनिषत्प्रतिपाद्यत्वरूप औपनिषदत्वके स्वीकारसे विप्रतिपत्ति नामक निग्रहस्थान भी नहीं बन सकता है इति।

इस विषयवाक्यमें स्थित जो 'अक्षर' शब्द है तिसका वर्णमें तथा परमात्मामें प्रयोग होनेसे "यहां अक्षर शब्द करके वर्णका ग्रहण करना अथवा परमात्माका ग्रहण करना" ऐसा संशय होता है इति।

अथ पूर्वपक्ष। जैसे पूर्व अधिकरणमें 'सत्य' शब्दको ब्रह्ममें रूढ़ होनेसे, 'ब्रह्म भूमारूप है' ऐसा कहा है। तैसे ही अक्षर शब्द भी वर्णमें रूढ़ है; अतः 'अक्षर' शब्द करके वर्णका ही ग्रहण करना।

---

* अर्थात् आकाशका अधिष्ठान मनवाणीका अविषय है। तथाच अविषय समझकर यदि याज्ञवल्क्य चुप हो जावेगा तो अप्रतिपत्ति नामक निग्रह-स्थान करके निगृहीत होवेगा। और यदि अवाच्यको भी कहेगा तो विप्रतिपत्ति नामक निग्रहस्थान होगा। क्योंकि अवाच्यका वचन विरुद्ध है। अतः यह प्रश्न दुर्वच है यह यहां गार्गीका अभिमान है।

शंका । 'न क्षरतीति अक्षरम्' जो नाशको प्राप्त न होवे तिसका नाम अक्षर है। इस अविनाशित्वके योगसे ब्रह्ममें भी अक्षर शब्द मुख्य है। अतः अक्षर शब्द करके ब्रह्मका ही ग्रहण करना चाहिये।

समाधान । सो सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है। क्योंकि **'तत्राक्षरसमाम्नाय'** इति। यहां अक्षर शब्दको वर्णमें प्रसिद्ध होनेसे प्रसिद्धिका व्यतिक्रम अयुक्त है। अर्थात् 'रूढ़िर्योगमपहरति' इस न्याय करके वर्णमें जो अक्षर शब्दकी रूढ़िवृत्ति है सो 'न क्षरतीति अक्षरम्' इस योगवृत्तिको हरण कर लेती है। अतः अक्षर शब्द करके वर्णका ही ग्रहण करना, ब्रह्मका नहीं।

शंका । वर्णमें आकाशान्त जगत्का विधारण नहीं बन सकता है। और सर्वात्मभाव भी नहीं बन सकता है। अतः अक्षर शब्द करके वर्णका ग्रहण नहीं करना किन्तु पूर्वोक्त अविनाशी ब्रह्मका ही ग्रहण करना?

समाधान । सो सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि जैसे **'ॐकार एवेदं सर्वम्'** इत्यादिक अन्य श्रुतिमें ॐकारका ध्यानके लिये ॐकारमें सर्वात्मत्वका अवधारण किया है, तथा ॐकारसे ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका वर्णन किया है; तैसे यहां ॐकारमें सर्वाश्रयत्व भी बन सकता है। और वस्तुतः पृथिवी आदिक आकाश पर्य्यन्त सम्पूर्ण अर्थ; पृथिवी आदिक शब्दात्मक सम्पूर्ण नामोंमें ओतप्रोत हैं। और सम्पूर्ण नाम 'तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णेति' इत्यादिक श्रुति प्रमाणसे ओंकारमें ओतप्रोत हैं। अतः ओंकारमें भी अम्बरान्तधृति बन सकती है। इसलिये अक्षर शब्द करके उपास्य ॐकार ही ग्रहण करनेको योग्य है ब्रह्म नहीं इति।

अथ **सिद्धान्तपक्ष** । प्रसङ्गमें प्रश्न व प्रतिवचन करके अव्याकृतरूप आकाश पर्यन्त जगत्के आधारमें ही तात्पर्यका निश्चय होनेसे यहां ध्यानका विधान नहीं है। अतः रूढिवृत्तिको बाध करके योगवृत्ति ही ग्राह्य है इस अर्थको दिखाते हैं—

'उच्यते' इत्यादि भाष्यम्। 'अक्षर' शब्द करके परमात्मा ही ग्रहण करनेको योग्य है। क्योंकि **'अम्बरान्तधृतेः'** पृथिवीसे लेकर आकाश पर्यन्त विकारका धारणरूप अम्बरान्तधृति परमात्मामें ही बन सकती है। और तहां इस अक्षरके प्रकरणमें तीनों कालोंमें विभक्त पृथिवीसे लेकर सम्पूर्ण विकाररूप जगत्की 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इस वचन करके आकाशमें प्रतिष्ठाको जब याज्ञवल्क्यने कहा तब गार्गीने पूछा है कि—यह अव्याकृतरूप आकाश किसमें ओतप्रोत है? इस प्रश्न करके इस अक्षरका प्रसङ्गमें याज्ञवल्क्यने अवतरण किया है। और आगे भी याज्ञवल्क्यने **'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति'** इस वचन करके आकाशके आधाररूपसे ही अक्षरका उपसंहार किया है। तथाच यह जो अव्याकृतरूप आकाश पर्यन्तका धारण कहा है सो ब्रह्मसे भिन्नमें नहीं

बन सकता है। अतः अक्षर शब्द करके ब्रह्मका ही ग्रहण करना। और 'ओंकार एवेदं सर्वम्' इस मन्त्रमें जो सम्पूर्ण जगत्को ओंकाररूप कहा है, और 'तद्यथा शङ्कुना' इस श्रुतिसे जो ओंकारमें सर्व प्रपञ्चको ओतप्रोत कहा है, सो भी ओंकारकी उपासना ब्रह्मज्ञानका साधन है, इसलिये ओंकारकी स्तुतिके वास्ते है। इस पूर्वोक्त रीतिसे यह सिद्ध हुवा कि–'न क्षरतीत्यक्षरम्' 'अश्नुत इत्यक्षरम्'। इस योगवृत्तिसे नित्यत्व तथा व्यापित्वरूपधर्म करके परब्रह्मरूप ही अक्षर है वर्णरूप नहीं इति ॥ १० ॥

अब प्रधानवादी श्रुतिमें स्थित आकाश शब्दसे भूताकाशको समझकर शंका करता है—यदि आकाशान्तकार्यको कारणके अधीन होनेसे अक्षर शब्द करके परमात्माका ग्रहण करोगे तो प्रधानवादीके मतमें भी आकाश पर्यन्त कार्यको प्रधानके अधीन होनेसे सम्पूर्ण कार्यरूप जगत्का विधारकत्व प्रधानमें भी बन सकता है। तथा च अम्बरान्तधृतिसे ब्रह्मकी ही प्रतिपत्ति कैसे हो सकती है अतः अक्षर शब्दसे प्रधान ही ग्रहण करनेको योग्य है ब्रह्म नहीं ?

ऐसी आशंकाके हुये सूत्रकार समाधानको कहते हैं—

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

अर्थ—१ सा, २ च, ३ प्रशासनात्। इस सूत्रमें तीन पद हैं। प्रकृत आकाशमें भूताकाशत्वका निषेध 'च' का अर्थ है। 'आकाश एव तदोतं च प्रोतं च' इस श्रुतिमें आकाश पर्यन्तका जो धारणरूप कर्म है सो परमात्माका ही है, क्योंकि 'प्रशसनात्' प्रशासनका यहां श्रवण होता है इति। **एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः'** । इत्यादि। अर्थ—हे गार्गि! इस अक्षरकी प्रशासन कहिये शिक्षामें और विधृतिमें सूर्यचन्द्रमा विषयरूप करके स्थित हैं इति। इस सूत्र करके यहां सूत्रकारने यह बोधन किया है कि—प्रशासन परमेश्वरका ही कर्म है। क्योंकि जैसे अचेतन मृदादिकोंमें स्वकार्य घटादिक विषयक प्रशासन नहीं बन सकता है। तैसे अचेतन प्रधानमें भी स्वकार्य जगत्विषयक प्रशासन नहीं बन सकता है। किन्तु चेतनरूप परमात्मामें ही बन सकता है। अतः अक्षर शब्द करके चेतनरूप ब्रह्मका ही ग्रहण करना प्रधानका नहीं। किंच भूताकाशको कार्यके अन्तःपाति होनेसे भूताकाशमें, श्रुत सम्पूर्ण कार्यका आश्रयत्व भी नहीं बन सकता है। अतः अव्याकृत प्रधानरूप जो अज्ञान है सोई यहां 'आकाश' शब्दका अर्थ है। तिस प्रधानका आश्रयत्व अक्षरमें श्रवण होता है। अतः अक्षर शब्दका अर्थ प्रधान नहीं हो सकता है किन्तु ब्रह्म ही है इति ॥ ११ ॥

अक्षर शब्दसे ओंकारादिकोंका निषेध करके जो ब्रह्मका ग्रहण है तिसमें दूसरे हेतुको सूत्रकार दिखाते हैं:—

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

अर्थ—१ अन्यभावव्यावृत्तेः, २ च। इस सूत्रमें दो पद हैं। पुनः अन्यभावकी

व्यावृत्तिरूप हेतुसे भी प्रकृतमें 'अक्षर' शब्द करके ब्रह्मका ही ग्रहण करना। तिस ब्रह्ममें ही जगदध्यासाधिष्ठानत्वरूप अम्बरान्तधृति बन सकती है, अन्य किसीमें नहीं बन सकती है इति।

शंका। 'अन्यभावव्यावृत्ति' शब्दका क्या अर्थ है?

समाधान। अन्यका जो भाव तिससे वा तिसकी व्यावृत्ति; 'अन्यभावव्यावृत्ति' शब्दका अर्थ है। यहां यह अर्थ उक्त होता है—प्रकरणकी पर्यालोचना करके अक्षरमें प्रतीयमान जो प्रधानादिकोंसे भिन्नत्वरूप व्यावृत्ति है तिस व्यावृत्तिरूप हेतुसे, अम्बरान्तके विधारक अक्षरको जो पुरुष ईश्वरसे अन्य वर्णरूप अथवा प्रधानरूप अथवा जीवरूप करके शंका करते हैं, तिन वादियोंका भाव कहिये अभिप्राय व शंकाको श्रुति व्यावृत्त करती है। अथवा अक्षरको अन्यभाव कहिये अचेतनत्वसे श्रुति व्यावृत्त करती है। अर्थात् अक्षरमें वर्णत्व व प्रधानत्व व जीवत्वके अत्यन्ताभावको श्रुति बोधन करती है। अथवा प्रधानादिकोंसे भिन्नरूप करके अक्षरको श्रुति बोधन करती है। अथवा अन्य भाव व्यावृत्तिरूप अभेदको श्रुति बोधन करती है। अतः 'एतद्वैतदक्षरं गार्गि' यहां अक्षर शब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण करना। तहां बृहदारण्यक श्रुतिः—'**तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ**' इति। **अर्थ**—हे गार्गि! 'अस्थूलमनणु' इत्यादिक मन्त्र करके निश्चित जो यह अक्षर है सो प्रत्यक्षवृत्तिरूप दृष्टिका अविषय होनेसे किसी करके दृष्ट नहीं है। और दृशिस्वरूप होनेसे स्वयं द्रष्टृ है। और शाब्द वृत्तिरूप श्रुतिका अविषय होनेसे किसी करके श्रुत नहीं है। और श्रुति स्वरूप होनेसे स्वयं श्रोतृ है। इसी प्रकार आगे भी जान लेना इति। यद्यपि प्रधानमें अद्रष्टृत्वादिक धर्म बन सकते हैं तथापि अचेतन होनेसे प्रधानमें व ॐकाररूप वर्णमें द्रष्टृत्वादिक धर्म नहीं बन सकते हैं। अतः प्रधान व वर्णसे भिन्न अक्षर ब्रह्मरूप ही है।

अब इस सूत्रसे जीवके निषेधको दिखाते हैं—'**तथा**' इत्यादि भाष्यम्। '**अन्यभावव्यावृत्तेश्च**' अन्यभाव कहिये अन्यत्व अर्थात् भेद, तिस भेदकी व्यावृत्ति कहिये निषेध, तिससे। अर्थात् इससे यह सिद्ध हुवा कि-श्रुतिमें अक्षरसे भिन्न जीवका निषेध होनेसे अक्षर परब्रह्म स्वरूप ही है इति। तहां बृहदारण्यक श्रुतिः—'**नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ**' इत्यादि। **अर्थ**—प्रकृत अक्षरसे भिन्न दर्शनादिरूप क्रियाका द्रष्टा कोई नहीं है, तथा श्रोता भी नहीं है, मन्ता भी नहीं है, व विज्ञाता भी नहीं है इति। इस श्रुति करके प्रकृत अक्षर आत्माके भेदका प्रतिषेध होनेसे और उपाधिवाले जीवमें नानात्वको विद्यमान होनेसे अक्षर शब्दका वाच्यत्व नहीं बन सकता है। और 'अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनः' इति। यह अक्षर प्रतिपादक श्रुति भी अक्षरमें उपाधिमत्ताका निषेध करती है। जीवमें चक्षुरादिका निषेध बने नहीं। अतः अक्षर शब्द करके जीवका ग्रहण नहीं करना।

शंका । उपाधि रहित अर्थात् शोधित जो जीव है सो अक्षर शब्द करके ग्रहण करनेको योग्य है परब्रह्म नहीं ।

समाधान । जो निरुपाधिक चेतन है वह शारीर व जीव नहीं कहा जाता है । क्योंकि निरुपाधिक चेतनमें जीवत्व ही नहीं है । इस पूर्वोक्त रीतिसे अक्षर परब्रह्मरूप ही है । इसलिये निर्गुण अक्षरमें ही गार्गीब्राह्मण समन्वित हुवा ऐसा जानना इति ॥ १२ ॥

इत्यक्षराधिकरणम् ॥

ॐकार जो है सो पर पुरुषरूप करके ध्यान करने योग्य है अब इस अर्थको व्यास भगवान् दिखाते हैं—

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः ॥ १३ ॥

अर्थ—१ ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्, २ सः । इस सूत्रमें दो पद हैं इति । इस सूत्रमें जो 'सः' यह शब्द है सो परब्रह्मका बोधक है । और 'मैं ब्रह्मरूप हूं' इस प्रकारका प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्मके साक्षात्काररूप दर्शनका नाम यहां ईक्षति है । तिस ईक्षतिका विषयरूप जो कर्म है तिसका नाम ईक्षतिकर्म है । तिस ईक्षतिकर्मरूप परब्रह्मका 'परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इस वाक्यशेषमें 'व्यपदेशात्' कहिये कथन होनेसे यहां ओंकारसे अभिन्नरूप करके परब्रह्म ही ध्यान करनेको योग्य है अपरब्रह्म नहीं इति ।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं । प्रश्नोपनिषत्के पञ्चम प्रश्नमें लिखाहै कि—सत्यकामनामक शिष्य पिप्पलाद गुरुके प्रति पूछता भया—हे भगवन् ! मनुष्योंके मध्यमें जो त्रैवर्णिक पुरुष अधिकारी गुणों करके प्रसिद्ध है वह यदि मरण पर्यन्त अर्थात् यावत्जीवन श्रद्धा भक्ति पूर्वक ओंकारके ध्यानको करे तो सो ध्याता पुरुष तिस ओंकारके ध्यान करके उपासनाका फलरूप किस लोकको प्राप्त होता है ?

पिप्पलाद ऋषि कहते भये—**एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः । तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति** ।प्रश्न०। अर्थ—हे सत्यकाम ! निरतिशय सुखादि लक्षण जो परब्रह्म है; तथा कार्यात्मक हिरण्यगर्भरूप जो अपरब्रह्म है; तथा श्रुतिमें स्थित दो चकारों करके पर अपर ब्रह्मसे भिन्न रूप करके गृहीत जो जगत् है; सो सम्पूर्ण स्वरूप चारों वेदोंमें प्रसिद्ध ओंकार ही है । अतः पर अपर ब्रह्मरूप करके प्रणवको जाननेवाला जो विद्वान् है सो पर अपर ब्रह्मकी प्राप्तिका साधनरूप ओंकारका ध्यान करके पर ब्रह्मका उपासक परब्रह्मको प्राप्त होता है, तथा अपरब्रह्मका उपासक अपर ब्रह्मको प्राप्त होता है इति । इस अर्थको प्रसङ्गमें प्राप्तकरके आगे पिप्पलादऋषिने कहा कि—हे सत्यकाम ! जो पुरुष ओंकारकी सकल मात्रा विभाग व सर्व मात्रावोंके अर्थको नहीं भी जाने तो भी ओंकारके ध्यानके प्रभावसे उत्तम गतिको ही प्राप्त होता है । किसी मात्राके

अर्थज्ञान वैगुण्यसे कर्मज्ञान उभय भ्रष्ट हुवा भी ओंकारैकशरण पुरुष दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता है। किन्तु ओंकारकी एक मात्राके अर्थादिविषयक ज्ञानवान् हुवा एकमात्राविशिष्ट ओंकारका भी यदि ब्रह्मरूप करके ध्यान करे तो भी तिसी ध्यानके प्रभावसे इस ओंकारके उपासकको ऋग्वेदके मन्त्र मनुष्यलोकमें प्राप्त करते हैं। और मनुष्यलोकमें श्रीमान् द्विजोत्तम होकर; तप ब्रह्मचर्य श्रद्धादि साधन सम्पन्न हुवा; मनुष्यलोककी विभूतियोंका अनुभव करता है। और तप आदिके प्रभावसे जन्मान्तरमें भी सद्गतिको ही प्राप्त होता है, दुर्गतिको कभी नहीं प्राप्त होता है।

और यदि दोमात्रावोंके अर्थादिक ज्ञान करके युक्त हुवा दोमात्रावों करके विशिष्ट ओंकारको ब्रह्मरूप करके मनमें चिन्तन अधिकारी पुरुष करे तो; तिसको यजुर्वेदके मन्त्र सोमलोकको प्राप्त करते हैं। और सोमलोकमें प्राप्त होकर तहांके ऐश्वर्यको अनुभव करके सो पुरुष पुनः मनुष्यलोकमें आता है। पूर्ववत् दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता है।

और 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' इति।प्रश्न०। अर्थ—'परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' इस उपक्रमवाक्यमें ओंकारका और ध्येय ब्रह्मका अभेदको श्रुत होनेसे त्रिमात्रेण, ओमित्येतेन, अक्षरेण, यहां तीनों स्थानमें जो तृतीया विभक्ति है सो द्वितियार्थमें है ऐसा जानना। आचार्य पिप्पलाद कहते हैं—"हे सत्यकाम! जो ध्यान करनेवाला अधिकारीगुणों करके प्रसिद्ध पुरुष मात्राविभाग सहित तत्तत्मात्राके अर्थविषयक ज्ञान सहित ऋषि आदिक ज्ञानविशिष्ट होकर 'परं' कहिये सूर्यके अन्तर्गत जो परिपूर्ण पुरुष है तिसके साथ अभेद करके त्रिमात्रक तथा 'ओं' इत्याकारक तथा वर्णात्मक ओंकारका चिन्तन करता है सो पुरुष ध्यानके प्रभावसे सूर्यलोकको प्राप्त होता है। सूर्यकी सम्पत्तिमात्रसे ही जैसे सर्प अनायाससे अपनी त्वचाको त्यागता है इसी प्रकार सर्व पापोंसे विनिर्मुक्त होकर सामके अधिष्ठातृदेवतावों करके ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। तहां जाकर इस जीवघनसे पर जो पुरिशय अन्तर्यामी पुरुष है तिसको आत्मरूपसे देखता है" इति। यह मन्त्र इस अधिकरणसूत्रका विषयवाक्य है।

अब संशयको दिखाते हैं—'एतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति' अर्थ—ध्याता पुरुष इस ओंकाररूप आलम्बन करके ही पर ब्रह्म तथा अपर ब्रह्ममेंसे किसी एकको प्राप्त होता है इति। इस श्रुतिको प्रसङ्गमें प्रकृत होनेसे; 'यः पुनरेतं' इस वाक्यमें सत्यकामके प्रति पिप्पलाद ऋषि ध्यान करनेके योग्य पर ब्रह्मका ही उपदेश करते हैं अथवा अपरब्रह्मका उपदेश करते हैं ऐसा यहां संशय होता है इति।

'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' इस पूर्व अधिकरणमें यद्यपि जो अक्षर शब्द है सो वर्णमें रूढ़ है; तथापि आकाशादिक जगत्का आधारत्वरूप लिङ्ग करके 'न क्षरतीत्यक्षरम्' इस योगवृत्तिका आश्रयण किया है; अर्थात् लिङ्गके बलसे 'अक्षर' शब्द करके जैसे ब्रह्मका ग्रहण किया है। तैसे ही प्रसङ्गमें भी परिच्छिन्न फलका

श्रवणरूप लिङ्गको विद्यमान होनेसे आपेक्षिक परत्वविशिष्ट हिरण्यगर्भरूप अपर ब्रह्मका 'पर' शब्द करके ग्रहण करना चाहिये इस दृष्टान्तसङ्गति करके पूर्वपक्षी पूर्वपपक्षको दिखाता है—

अथ पूर्वपक्ष। 'तत्रापरमिदं ब्रह्मेति प्राप्तम्' इति भाष्यम्। अर्थ— तहां 'यः पुनरेतं' इस वाक्यमें अपर ब्रह्म ही उपास्यरूप करके ग्रहण करनेको योग्य है। क्योंकि 'स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः' 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्'। अर्थात् 'सो उपासक पुरुष तेजका मण्डलरूप सूर्य्यविषे प्राप्त होता है' 'पश्चात् सो उपासक पुरुष गीतिप्रधान सामवेदके अभिमानी देवतावों करके ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है' इति। यह मन्त्र प्रकृत ब्रह्मवित् उपासक पुरुषको देश करके परिच्छिन्न ब्रह्मलोकरूप फलकी प्राप्तिको कथन करता है। और परब्रह्मको सर्वगत होनेसे, परब्रह्मवित् उपासक पुरुष, परिच्छिन्न फलको नहीं प्राप्त हो सकता है। किन्तु अपरिच्छिन्न नित्य ब्रह्म सुखरूप मोक्ष फलको ही प्राप्त होता है। अतः यहां अपर ब्रह्म ही ध्येय है।

शंका। यदि प्रसङ्गमें अपर ब्रह्मका ग्रहण करोगे तो 'परं' यह विशेषण व्यर्थ होवेगा।

समाधान। यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है क्योंकि स्थूल विराट्की अपेक्षासे हिरण्यगर्भरूप अपर ब्रह्ममें परत्व बन सकता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे अपर ब्रह्म ही यहां ॐकाररूप करके उपास्य है पर ब्रह्म नहीं इति।

ऐसे पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहते हैं:—

अथ सिद्धान्तपक्ष। 'परमेव ब्रह्मेहाभिध्यातव्यमुपदिश्यते' इति भाष्यम्। अर्थ-'यः पुनरेतं' इत्यादि इस विषयवाक्यमें ॐकाररूप करके ध्यान करनेको योग्य पर ब्रह्म ही उपदिष्ट है, अपर ब्रह्म नहीं इति। क्योंकि वाक्यशेषमें ध्यातव्य पुरुषको ही ईक्षतिरूप दर्शनका विषयरूप करके कथन किया है। तहां वाक्यशेषश्रुतिः—'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते'। अर्थ—ब्रह्मलोकको प्राप्त जो त्रिमात्रक ओंकारका ध्यान करनेवाला उपासक है; सो तहां सर्व शरीरोंमें अनुप्रविष्ट परिपूर्ण परमात्माका साक्षात्कार करता है; तथा ब्रह्मलोकमें उत्पन्न ब्रह्मसाक्षात्कारवाला उपासक पुरुष विदेहकैवल्यको प्राप्त होता है। वह उपास्य पुरुष कैसा है—सत्यलोक निवासी तथा सम्पूर्ण जीवोंका एक पिण्डरूप घन तथा स्थावरजङ्गमसे 'परात्' कहिये उत्कृष्ट जो हिरण्यगर्भ है तिस हिरण्यगर्भसे 'परं' कहिये उत्कृष्ट है इति।

शंका। ईक्षणरूप दर्शनका विषय अपर ब्रह्म ही रहो। और यदि अपर ब्रह्मको ही दर्शनका विषय मानोगे तो अपर ब्रह्म ही उपास्य सिद्ध होवेगा।

समाधान। 'तत्राभिध्यायतेरतथाभूतमपि वस्तु कर्म भवति' इति भाष्यम्। अर्थ—तहां ध्यानका विषय तो 'अतथाभूत' कहिये मिथ्या पदार्थ भी होता है।

क्योंकि मनोरथ कल्पित वस्तुमें भी ध्यानका कर्मत्व देखनेमें आता है। और ईक्षणरूप दर्शनका विषय तो सत्य ही होता है असत् नहीं ऐसा लोकमें देखनेमें आता है। अतः यथार्थ दर्शनका विषय परमात्मा ही यहां ईक्षतिका कर्मरूप करके उपदिष्ट है ऐसा निश्चय होता है इति।

शंका। यद्यपि प्रमारूप ईक्षण, विषयनिष्ठ सत्यत्वकी अपेक्षा करता है इसलिये परमात्मा ईक्षणका विषय रहो। तथापि ध्यान तो विषयनिष्ठ सत्यत्वकी अपेक्षा करता नहीं; अतः असत्य अपर ब्रह्म ही ध्यानका विषय क्यों न होवे ?

समाधान। 'स एव' इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् 'परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इस वाक्यशेषमें जो ईक्षणका विषय परमात्मा है; तिस परमात्माकी ही ध्यातव्यरूप करके विषयवाक्यमें स्थित 'पर' तथा 'पुरुष' शब्दसे प्रत्यभिज्ञा होती है; अतः यहां परमात्मा ही ध्येय है।

शंका। ध्यानमें पर पुरुषको कथन किया है; और ईक्षणमें परसे पर पुरुषको कथन किया है; इस कहनेसे "ध्यानका विषय पर पुरुषसे, ईक्षणका विषय परसे पर पुरुष भिन्न है" ऐसा निश्चय होता है। जब ईक्षणका विषय भिन्न हुवा तब ईक्षणके विषय इतर पुरुषकी विषयवाक्यमें ध्यातव्यरूप करके प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है, क्योंकि अभिन्न वस्तुकी प्रत्यभिज्ञा होती है।

समाधान। दोनों वाक्योंमें पर शब्द तथा पुरुष शब्दको साधारण होनेसे परमात्माकी प्रत्यभिज्ञा बन सकती है।

शंका। 'एतस्माज्जीवघनात्परात्' इन पदों करके प्रकृत ध्यान करनेके योग्य जो हिरण्यगर्भ है तिसका परामर्श है; और 'परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इन पदों करके ध्यातव्य हिरण्यगर्भसे भिन्न जो ईक्षणका विषय पर पुरुष परमात्मा है तिसका परामर्श है; अतः ध्येय विषयवाक्यमें परमात्माकी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है।

समाधान। 'जीवघन' शब्द करके प्रसङ्गमें प्राप्त ध्यान करनेके योग्य हिरण्यगर्भरूप पर पुरुषका परामर्श नहीं हो सकता है जिस परामर्श करके परसे पर जो ईक्षणीय पुरुष है सो प्रकृत ध्येयसे भिन्न होवे। क्योंकि ध्यानको तथा ध्यानका फल दर्शनरूप ईक्षणको समानविषयक होनेसे, और उपक्रमउपसंहार वाक्योंकी एक वाक्यताके बलसे जो ध्येय है सोई ईक्षणीय है। अतः दर्शनका विषय जो पर ब्रह्म है सोई यहां ध्यातव्य है अर्थात् ध्यानका विषय है यह सिद्ध हुवा।

शंका। 'जीवघन' किसको कहते हैं।

समाधान। 'घन' नाम मूर्तिका है, जीव स्वरूप जो घन तिसका नाम

जीवघन है। अर्थात् लवणपिण्डकी तरह उपाधि करके परिच्छिन्न जो परमात्माका जीव स्वरूप है तथा विषय इन्द्रियादिकोंसे जो पर है सोई यहां जीवघन है। यद्यपि समष्टिजीवाभिमानी हिरण्यगर्भका नाम जीवघन है। और यह जीवघनरूप अपर ब्रह्म एक एक मात्रक ओंकारमें अथवा द्विमात्रक ओंकारमें उपास्य भी है अत एव 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' इस पर अपर विषयक उपक्रमवाक्यमें अपरविषयक उपक्रमकी भी सङ्गति होती है। तथापि त्रिमात्रक ॐकारमें 'परं पुरुषमभिध्यायीत' इत्यादिक श्रुतिके बलसे पर ब्रह्म ही ध्येय है हिरण्यगर्भ नहीं इति।

अब "लक्षणावृत्ति करके जीवघन शब्दसे ब्रह्मलोकका परामर्श होता है" यह जो किसीका मत है सो दिखाते हैं-'अपर आह' इत्यादि भा०। अर्थ--'एतस्माज्जीवघनात्' इस वाक्यशेषसे प्रथम तथा 'यः पुनरेतं' इस विषयवाक्यसे अनन्तर जो 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्', यह वाक्य है तिस वाक्य करके कथन किया हुवा जो ब्रह्मलोक है सोई यहां जीवघन शब्दका अर्थ है। यद्यपि व्यष्टि करणोंके अभिमानी जो जीव हैं तिन जीवोंका संघातरूप एकीभाव ब्रह्मलोकनिवासी समष्टिकरणोंका अभिमानी हिरण्यगर्भमें हो सकता है; अतः हिरण्यगर्भका नाम जीवघन है, परन्तु ब्रह्मलोकका नाम जीवघन नहीं हो सकता है। तथापि हिरण्यगर्भको ब्रह्मलोकका स्वामी होनेसे परंपरा सम्बन्धरूप लक्षणावृत्ति करके ब्रह्मलोक भी जीवघन कहा जाता है इति। और जीवघनरूप जो ब्रह्मलोक है सो 'परात्' कहिये लोकान्तरसे पर भी है। तिस ब्रह्मलोकसे पर जो सर्वलोकातीत तथा ईक्षणका कर्मरूप शुद्ध परमात्मा है सोई परमात्मा यहां ध्यानका विषयरूप कर्म है। ऐसा निश्चय होता है।

और 'परपुरुष' शब्दको परमात्मामें मुख्य होनेसे भी परमात्मा ही यहां ध्येय है। अब इस अर्थको भाष्यकार दिखाते हैं—'परं पुरुषं' इत्यादि। अर्थात् 'परपुरुष' यह जो विशेषण है सो भी उपास्यरूप करके परमात्माका ग्रहण करनेसे ही समीचीन होता है। क्योंकि जिससे परे किञ्चित् अन्य वस्तु न होवे सोई वस्तु मुख्य 'पर' हो सकता है। ऐसा परमात्मा ही है। यद्यपि स्थूल विराट्की अपेक्षासे हिरण्यगर्भ भी पर है; तथापि शुद्ध परमात्माकी अपेक्षासे पर नहीं किन्तु अपर है। अतः मुख्य पर नहीं है। इस अर्थमें श्रुत्यन्तरको दिखाते हैं—पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः। अर्थ—पुरुषसे परे कुछ नहीं है किन्तु सोई शुद्ध परमात्मा सर्वका अवधिरूप है, सोई परा 'गति' कहिये मोक्षरूप है इति।

किञ्च 'परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' इस मन्त्रमें पर ब्रह्म तथा अपर ब्रह्मका विभाग दिखा करके आगे कहा है कि-'ओमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' यह मन्त्र ॐकार करके पर पुरुषमें ध्यानके विषयत्वको कहता हुवा 'परपुरुष' शब्द करके पर ब्रह्मको ही बोधन करता है अपर ब्रह्मको नहीं इति।

और पापकी निवृत्तिरूप फलसे भी निश्चय होता है कि—ध्यानका विषय

परमात्मा ही है। तहां श्रुतिः—'स तेजसि सूर्ये संपन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः'। अर्थ—सो उपासक पुरुष तेजका मण्डलरूप सूर्यलोकमें प्राप्त होता है, और तहां प्राप्त हुवा जो उपासक पुरुष है सो जैसे 'पादोदर' जो सर्प है सो जीर्णकञ्चुक करके मुक्त होता है तैसे ही अशुद्धिरूप पाप करके मुक्त होता है इति। यह पापकी निवृत्तिरूप फलका कथन करनेवाला जो वचन है सो भी प्रसङ्गसे परमात्माको ही यहां ध्यातव्यरूप करके सूचन करता है।

शंका। प्रकृत त्रिमात्रक ॐकारके उपासक पुरुषको जो देश करके परिच्छिन्न ब्रह्मलोककी प्राप्तिरूप फल होता है; सो अपरिच्छिन्न परमात्माके उपासक पुरुषको नहीं बन सकता है।

समाधान। यह जो वादीने कहा है सो असंगत है, क्योंकि त्रिमात्रक ॐकाररूप करके परमात्माका ध्यान करनेवाले उपासकको ब्रह्मलोककी प्राप्तिरूप फल होता है; पश्चात् ब्रह्मलोकमें 'मैं ब्रह्मरूप हूं' इस प्रकारका उत्पन्न ब्रह्मसाक्षात्कारवाला हुवा उपासक पुरुष विदेहकैवल्यरूप मोक्षको प्राप्त होता है। अतः 'स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्' यह जो वचन देशपरिच्छिन्न ब्रह्मलोकरूप फलको कहता है सो वचन क्रममुक्तिके अभिप्रायसे है। अत कोई दोष नहीं यह सिद्ध हुवा इति। और इस अधिकरणमें पूर्वपक्षकी रीतिसे त्रिमात्रक ॐकारमें भी अपर ब्रह्मकी उपासना फल है, सिद्धान्तमें पर ब्रह्मकी उपासना फल है इति ॥ १३ ॥

इति ईक्षतिकर्माधिकरणम् ॥

'परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इस मन्त्र करके पूर्व अधिकरणमें उपास्य परपुरुषका निर्णयके हुये भी 'पुरिशयं' इस पद करके जैसे परमात्माका शरीररूप पुरके साथ सम्बन्ध कहा है; तैसे ही 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे' इस वक्ष्यमाण मन्त्रमें भी दहराकाशका शरीररूप पुरके साथ सम्बन्ध कहा है, अतः दहराकाश परब्रह्म स्वरूप ही है। इस अर्थको अब सूत्रकार दिखाते हैंः—

दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

अर्थ—१ दहरः, २ उत्तरेभ्यः। इस सूत्रमें दो पद हैं। अल्प परिमाणवालेका नाम 'दहर' है। और अल्प परिमाणवाला हृदयकमलरूप उपाधि करके अवच्छिन्न जो आकाश है तिसका नाम दहराकाश है। अर्थात् 'दहर' कहिये जो दहराकाश है सो परमात्मा ही है भूताकाश तथा जीव नहीं है। क्योंकि 'उत्तरेभ्यः' कहिये 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादिक उत्तरवाक्यशेषमें परमेश्वरके ही पापरहितत्वादिक धर्मोंका यहां कथन किया है इति।

अब इस सूत्रकी अधिकरणरचनाको दिखाते हैं—छान्दोग्यके अष्टम अध्यायके प्रथम खण्डमें—'अथ यदिदमस्मिन ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽ

स्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' इत्यादिक मन्त्र हैं। अर्थ—'अथ' कहिये भूमविद्याके अनन्तर दहरविद्याका प्रारम्भ करते हैं। 'अस्मिन् ब्रह्मपुरे' प्रत्यक्ष सिद्ध जो यह शरीर है सो ब्रह्मकी उपलब्धिका हेतु होनेसे सद्रूप ब्रह्मका पुर है अर्थात् पुरकी तरह पुर है। तिस ब्रह्मपुररूप शरीरमें 'यदिदम्' यह जो प्रसिद्ध 'दहरं' अल्प 'पुण्डरीकं' कमलके सदृश हृदयरूप 'वेश्म' स्थानकी तरह स्थान है। 'अस्मिनन्तः' इस हृदयरूप स्थानके मध्यमें 'आकाशः' जो सूक्ष्मरूप दहराकाश है। 'तस्मिन्' तिस दहराकाशरूप ब्रह्मके 'यदन्तः' मध्यमें जो स्वर्ग पृथिवी आदिक हैं 'तदन्वेष्टव्यं' दहराकाशरूप आश्रय सहित सो स्वर्ग पृथिवी आदिक शास्त्रादिक उपाय करके अन्वेषण (श्रवण मनन) करनेको योग्य हैं। और 'तद्वाव' सोई दहराकाश सहित स्वर्ग पृथिवी आदिक 'विजिज्ञासितव्यम्' साक्षात्कार करनेको योग्य है। वस्तुतः द्यावा पृथिवी आदिकों करके उपहित परमात्मा ही यहां अन्वेष्टव्य व विजिज्ञासितव्य है इति। इत्यादिक मन्त्र इस अधिकरणसूत्रके **विषय हैं**।

प्रसङ्गमें 'दहराकाश जिज्ञास्य है अथवा दहराकाशके अन्तर स्थित जो वस्तु है सो जिज्ञास्य है' ऐसा यहां **संशय** होता है।

और यदि आकाश जिज्ञास्य है तो तहां दहररूप हृदय पुण्डरीकमें श्रुत जो दहराकाश है सो क्या भूताकाश है अथवा विज्ञानात्मारूप जीव है अथवा परमात्मा है ऐसा **संशय** होता है।

शंका। इस प्रकारका संशय क्यों होता है?

समाधान। आकाश तथा ब्रह्मपुर शब्दसे होता है। क्योंकि आकाश शब्द भूताकाशका वाचक है, और ब्रह्म शब्द जीव तथा परमात्माका बोधक है इति।

तथा च और दो प्रकारका संशय है—तहां प्रथम **संशय** यह है कि-आकाश शब्दका प्रयोग भूताकाशमें तथा परब्रह्म विषे देखनेमें आता है, अतः क्या भूताकाशका नाम दहराकाश है अथवा परब्रह्मका नाम दहराकाश है इति। तथा दूसरा **संशय** यह है कि-'ब्रह्मपुरम्' इस मन्त्रमें क्या जीवका नाम ब्रह्म है अथवा परब्रह्मका ही नाम ब्रह्म है। तहां द्वितीय प्रथम पक्षमें इस शरीररूप पुरका स्वामी जीव कहा जावेगा। तथा द्वितीय द्वितीय पक्षमें इस शरीररूप पुरका स्वामी ब्रह्म कहा जावेगा इति। तहां दहराकाश शब्द करके जीवका ग्रहण करना अथवा परब्रह्मका ग्रहण करना इति।

इस प्रकारका संशयके हुये जैसे पुरुष शब्दको ब्रह्ममें मुख्य होनेसे ब्रह्म ध्येय है; ऐसा पूर्व अधिकरणमें कह आये हैं। तैसे आकाश शब्दको भूताकाशमें रूढ़ होनेसे भूताकाश ही ध्येय है। इस दृष्टान्तसङ्गतिसे पूर्वपक्षी प्रथम पूर्वपक्षको दिखाता है।

अथ **पूर्वपक्ष**। 'तत्र' इत्यादि भा०। तहां आकाश शब्द करके भूताकाशका ही ग्रहण करना परमात्माका नहीं, क्योंकि आकाश शब्द भूताकाशमें

रूढ़ हैं इति। सिद्धान्ती यदि ऐसा कहे कि—व्यापक भूताकाशमें अल्पत्वरूप दहरत्व, तथा एक ही आकाशमें उपमानउपमेयभाव; तथा स्वर्ग पृथिवी अग्नि वायु इत्यादिक पदार्थोंका अल्प दहराकाशरूप हृदयपुण्डरीकावच्छिन्न भूताकाशमें आधारत्व, किस प्रकार बनेगा इति। इन तीनों प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे वादी देता है। यद्यपि भूताकाश व्यापक है तथापि अल्प हृदयकमलरूप स्थानकी अपेक्षासे भूताकाशमें दहरत्व बन सकता है। तथा '**यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदयाकाशः**' इति। अर्थ—जितना परिमाणवाला बाह्य आकाश है, उतना परिमाणवाला ही इस हृदयके अन्तर आकाश है इति। इस श्रुतिसे बाह्य अभ्यन्तर भाव करके कल्पित भेदवाले एक ही आकाशमें उपमानउपमेयभाव भी बन सकता है। तथा वास्तवमें अवकाशरूप करके आकाशको एक होनेसे दहराकाशरूप भूताकाशमें स्वर्ग पृथिवी आदिक पदार्थोंका आधारत्व भी बन सकता है इति।

शंका। दहराकाशके प्रकरणमें 'एष आत्मा' इस श्रुतिमें जो 'आत्म' शब्द है सो भूताकाशमें नहीं बन सकता है इति।

समाधान। अथवा इस अरुचिसे दहराकाश शब्द करके जीवका ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि जीवमें आत्मशब्दका प्रयोग बन सकता है। किञ्च 'ब्रह्मपुरे' इस मन्त्रमें स्थित ब्रह्म शब्दसे भी जीवका ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जीवका ही यह शरीररूप पुर हुवा ब्रह्मपुर कहा जाता है। किञ्च इस शरीरको जीवका कर्म करके उपार्जित होनेसे जीवका शरीररूप पुरके साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध भी बन सकता है। तथा चैतन्यरूप गुणके योगसे ब्रह्म शब्दका वाच्यत्व भी जीवमें बन सकता है; अतः दहराकाश शब्द करके जीवका ही ग्रहण करना परब्रह्मका नहीं इति।

शंका। ब्रह्म शब्दका मुख्य अर्थ जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मका ही ब्रह्म शब्दसे ग्रहण करना चाहिये, गौण जीवका नहीं।

समाधान। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि परब्रह्मका शरीररूप पुरके साथ स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध नहीं बन सकता है; अतः जीव ही ब्रह्म शब्दका अर्थ है ब्रह्म नहीं इति।

शंका। शरीररूप पुरका स्वामी जीव रहो, किन्तु हृदयमें स्थित जो आकाश है सो ब्रह्मरूप है इति।

समाधान। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है क्योंकि पुरस्वामीका पुरके एक देशमें अवस्थान देखा गया है। जैसे पुरका स्वामी जो राजा है सो राजा पुरके एक देशमें स्थित होता है ऐसा देखनेमें आता है। तैसे मन जो है सो प्रायः करके हृदय स्थानमें रहता है अतः मन उपाधिवाला जो पुरका स्वामी जीव है सो जीव ही इस शरीररूप पुरके एक देश हृदयमें रहेगा ब्रह्म नहीं। किञ्च

जीवकी उपमा अरके अग्र भागसे करी है, अतः जीवमें ही दहरत्वकी कल्पना कर सकते हैं ब्रह्ममें नहीं इति। यदि सिद्धान्ती कहे कि—जीवको आकाशकी सदृश भी कहा है अतः जीवमें दहरत्व नहीं बन सकता है इति। यह कहना असङ्गत है क्योंकि जीवको जो आकाशके सदृश कहा है सो जीवका ब्रह्मके साथ अभेदको विवक्षा करके कहा है अतः कोई दोष नहीं।

शंका। जो जीव है सो आकाश पदका अर्थ नहीं हो सकता है; क्योंकि आकाश शब्द भूताकाश मात्रमें रूढ़ है। इसलिये दहराकाश शब्द करके जीवका ग्रहण नहीं बन सकता है ?

समाधान। अथवा मन्त्रमें स्थित 'दहराकाश' शब्द करके भूताकाशका ही ग्रहण करना चाहिये; और भूताकाशके अन्तर स्थित जो किञ्चित् स्वर्ग पृथिवी आदिक वस्तु हैं सोई ध्येय हैं, अत एव **'न चात्र दहरस्याकाशस्यान्वेष्यत्वम्'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ—'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे' इस मन्त्रसे दहराकाशका अन्वेषणीयत्व-रूप करके, तथा जाननेकी इच्छाका विषयत्वरूप करके, श्रवण नहीं होता है। किन्तु 'तस्मिन् यदन्तः' इति। इस मन्त्रमें दहराकाशमें स्थित जो वस्तु हैं तिन वस्तुवोंका विशेषणरूप करके अर्थात् आधारत्वरूप करके आकाशका श्रवण होता है। अतः भूताकाशविशिष्ट द्यावापृथिवी आदिक ही उपास्य हैं इति।

अथ सिद्धान्तपक्ष। **'परमेश्वर एव दहराकाशो भवितुमर्हति'** इत्यादि भा०। अर्थ—परमेश्वर ही दहराकाश होनेको योग्य है, भूताकाश अथवा जीव नहीं इति। अर्थात् जो दहराकाश है सो परमेश्वर ही है, क्योंकि वाक्यशेषमें परमात्माके ही पापरहितत्व, शोकरहितत्वादिक धर्मरूप हेतुवोंका कथन किया है। अब इस अर्थको स्पष्ट करके दिखाते हैं:—श्रुति भगवती कहती है कि-दहराकाशविषयक उपदेश करनेवाले आचार्यके प्रति शिष्य यदि पूछे कि—हे भगवन्! अल्प जो हृदयकमल है तिसमें भी अतिअल्प जो हृदयमें रहनेवाला आकाश है तिस आकाशमें क्या वस्तु है जो अन्वेषण करनेके योग्य तथा साक्षात्कार करनेके योग्य है? अर्थात् अत्यन्त अल्प हृदयाकाशमें कुछ भी नहीं है। यदि बदरमात्र कुछ होवे तो भी तिसके अन्वेषणसे अथवा साक्षात्कारसे किस फलकी सिद्धि होगी? अतः दहराकाशका अन्वेषण निरर्थक है इति।

इस प्रकार प्रकृत अन्वेष्टव्य व विजिज्ञासितव्य दहराकाशविषयक आक्षेप करनेवाले शिष्यके प्रति 'स ब्रूयात्' 'आचार्य समाधानवचनको कहे कि'— **"यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते"** इत्यादि (छा०)। अर्थ—हे शिष्य! जितना परिमाणवाला यह बाह्य आकाश है; उतना परिमाणवाला ही यह अन्तर हृदयमें आकाश है। और इसी हृदयाकाशरूप दहराकाशके अन्दर स्वर्ग पृथिवी आदिक सम्पूर्ण जगत् स्थित है इति। 'यावान् वा' इस वचन करके आचार्य, अल्प हृदय करके प्राप्त जो दहराकाशमें

अल्पत्व है; तिस अल्पत्वको प्रसिद्ध भूताकाशकी उपमा करके निवृत्त करते हुये; दहराकाशमें भूताकाशत्वको भी निवृत्त करते हैं । ऐसा निश्चय होता है। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि—दहराकाश करके परमात्मा ही अन्वेषण करनेको योग्य है तथा जाननेको योग्य है इति । यद्यपि आकाश शब्द भूताकाशमें रूढ़ है; तथापि तिसी भूताकाश करके तिस भूताकाशकी उपमा नहीं बन सकती है। क्योंकि उपमानउपमेयभाव भिन्न पदार्थोंका होता है। अतः भूताकाश ही दहराकाश है यह शंका भी निवृत्त हो गई।

शंका। एक आकाशका भी बाह्यत्व तथा आन्तरत्वरूप धर्म करके कल्पित जो भेद है तिस भेद करके उपमानउपमेयभाव बन सकता है ऐसा हम पूर्व कह आये हैं ।

समाधान। यह पूर्वपक्षीका कहना नहीं बन सकता; क्योंकि काल्पनिक भेदका आश्रयण करके उपमानउपमेयभावको सिद्ध करना जो है सो अगतिक गति है। किञ्च भेदकी कल्पना करके उपमानउपमेयभावका वर्णन करनेवाला जो वादी है; तिसके मतमें परिच्छिन्न हार्दाकाशमें जो अभ्यन्तरत्व है तिसको त्यागे विना व्यापक बाह्य आकाशका सादृश्य नहीं बन सकता है। यदि अभ्यन्तरत्वको त्यागकर देवे तो भी अत्यन्त अभेद होनेसे सादृश्य नहीं बन सकता है।

शंका। 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' 'रामरावणका जो युद्ध है सो रामरावणका युद्धके सदृश है' यहां अत्यन्त अभेद स्थलमें भी उपमानउपमेयभाव देखनेमें आता है इति।

समाधान। अत्यन्त अभिन्नमें भिन्नत्व घटित सादृश्यके अन्वयका अभाव होनेसे; इस वाक्यका युद्धनिष्ठ उपमारहितत्वमें तात्पर्य है उपमामें नहीं है। अतः काव्यवित् जो पुरुष हैं सो, इसको अनन्वयालङ्कार कहते हैं। इस पूर्वोक्त रीतिसे हार्दाकाशमें बाह्य आकाशके समान परिमाणका अभाव होनेसे उपमान-उपमेयभाव नहीं बन सकता है इति।

शंका। "ज्यायानाकाशात्" यह शतपथका मन्त्र परमेश्वरमें भी आकाशसे अधिक परिमाणको कथन करता है; अतः परमेश्वररूप दहराकाशका भी आकाशके साथ उपमानउपमेयभाव उपपन्न नहीं हो सकेगा ।

समाधान। 'यावान्वा' इस मन्त्रमें 'जितना भूताकाश है उतना ही ब्रह्म है' यह विधान नहीं किया है जिससे "ज्यायानाकाशात्" इस श्रुतिका विरोध होवे। किन्तु हृदय पुण्डरीकरूप वेष्टन करके प्राप्त जो दहराकाशमें अल्पत्व है; तिस अल्पत्वकी निवृत्तिके बोधनमें इस वाक्यका तात्पर्य है; अतः पूर्वोक्त दोष नहीं है इति।

शंका। भूताकाशरूप हार्दाकाशमें जो उपाधिकृत अल्पत्व है तिसकी

निवृत्तिमें तथा स्वभावसे आकाशके समान परिमाणवत्त्वमें अर्थात् सादृश्यमें 'यावान् वा' इस मन्त्रका तात्पर्य क्यों न होवे ?

समाधान। यदि यह वाक्य उभय अर्थको प्रतिपादन करेगा तो वाक्यभेदरूप दोष होवेगा। क्योंकि जहां एक वाक्यका दो अर्थके साथ अन्वय होता है; तहां वाक्यभेद दोष कहा जाता है। किंच कल्पित भेदवाला तथा हृदय पुण्डरीक करके वेष्टित जो आकाशका एक देश है तिसमें द्यावापृथिवी आदिकोंका आश्रयत्व भी नहीं बन सकता है। और यह आत्मा पाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा, पिपासा करके रहित है; तथा सत्य कामना, सत्यसङ्कल्पवाला है; इस प्रकार आत्मत्व, तथा अपहतपाप्मत्वादिक गुण भी भूताकाशमें नहीं बन सकते हैं; अतः दहराकाश शब्द करके भूताकाशका ग्रहण नहीं हो सकता है इति।

यद्यपि जीवमें आत्मशब्द बन सकता है; तथापि सत्यसङ्कल्पादिक गुणोंका अभाव होनेसे दहराकाश शब्द करके जीवका ग्रहण भी नहीं बन सकता है। किंच अरके अग्रभाग करके उपमित जो उपाधि करके अवच्छिन्न जीव है; तिस जीवमें हृदय पुण्डरीक करके किया हुवा जो अल्पत्वरूप दहरत्व है, सो भी 'ज्यायानाकाशात्' इत्यादि श्रुतिसे निवृत्त करनेको अशक्य है। क्योंकि जीव आकाशसे बड़ा है नहीं। यदि वादी कहे कि-ब्रह्मके साथ अभेदकी विवक्षा करके जीवमें ज्यायस्त्वरूप सर्वगतत्व बन सकता है; तो जिस ब्रह्मके साथ अभेदकी विवक्षा करके जीवमें सर्वगतत्व मानते हो तिस ब्रह्ममें ही साक्षात् सर्वगतत्वरूप व्यापकत्व मानकर इस प्रकरण करके प्रतिपाद्यत्व मानना उचित है जीवको प्रतिपाद्य मानना उचित नहीं है। और पूर्ववादीने जो कहा था कि-जैसे पुरका स्वामी जो राजा है सो पुरके एक देशमें रहता है; तैसे ही शरीररूप पुरको जीव करके उपार्जित होनेसे जीव ही हृदयरूप पुरके एक देशमें रहता है; अतः जीव ही दहराकाश शब्द करके ग्राह्य है ब्रह्म नहीं इति। सो भी वादीका कहना असङ्गत है; क्योंकि ब्रह्ममें ही ब्रह्म शब्दको मुख्य होनेसे पर-ब्रह्मका ही यह शरीररूप पुर हुवा ब्रह्मपुर कहा जाता है। अतः दहराकाश शब्द करके ब्रह्म ही ग्राह्य है जीव नहीं है।

शंका। ब्रह्मको असंग होनेसे शरीरके साथ ब्रह्मका सम्बन्ध नहीं बन सकता है ?

समाधान। इस शरीरको ब्रह्मसाक्षात्कारका अधिष्ठान (हेतु) होनेसे इस शरीररूप पुरके साथ ब्रह्मका कल्पित सम्बन्ध भी बन सकता है। अब ब्रह्मका शरीरके साथ जो ब्रह्मोपलब्धिस्थानत्वरूप सम्बन्ध है तिस सम्बन्धमें श्रुति-प्रमाणको दिखाते हैं—'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते'। प्रश्न०। इस मन्त्रका अर्थ पूर्व अधिकरणमें विस्तारसे कह आये हैं। 'स वा अयं पुरुषः

सर्वासु पूर्षु पुरिशयः ।' (बृ० २-५-१८) । अर्थ—सम्पूर्ण शरीररूप पुरोंमें जो हृदयरूप पुरि हैं तिन पुरियोंमें शयन करनेवाला जो पूर्णरूप यह पुरुष है सोई दहराकाशरूप परमात्मा है इति । इत्यादि मन्त्र ब्रह्मका शरीररूप पुरके साथ सम्बन्धको कहते हैं ।

अथवा शरीर जीवका ही पुर रहो । 'बृंहयति इदमिति ब्रह्म' देहकी वृद्धिको जो करे तिसका नाम ब्रह्म है । अर्थात् प्रकृतमें जीवका नाम ब्रह्म है । जैसे शालग्राममें विष्णु सन्निहित होता है; तैसे जीवके इस शरीररूप पुरमें ब्रह्म सन्निहित है । अतः उपास्य विष्णुकी तरह उपास्य ब्रह्म ही दहराकाश है ।

किंच जैसे राजाके पुरमें मैत्रका भी गृह होता है; तैसे जीवके शरीररूप पुरमें ब्रह्मका हृदयरूप रहनेका स्थान है । अतः हृदयरूप पुण्डरीकमें परमात्मा ही ध्येय है जीव नहीं इति ।

किंच **'तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते ।'** अर्थ—जैसे स्वामीकी आज्ञानुवर्त्ति प्राणियोंका सेवादिक कर्म करके सम्पादित जो भोगरूप लोक है, सो नष्ट हो जाता है । तैसे ही अग्निहोत्रादिक पुण्यकर्म करके सम्पादित जो स्वर्गादिक लोक है सो भी नष्ट हो जाते है इति । इस प्रकार कर्मजन्य फलको अन्तवत् कह कर आगे कहा है कि—**'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।'** अर्थ—जो इस दहराकाशरूप आत्माको तथा तदाश्रित कामोंको न जान करके शरीर त्याग करता है; तिसका सर्वलोकमें कामचार नहीं होता है । और 'अथ' कर्मफलविषयक वैराग्यसे अनन्तर जीवत् दशामें ही दहररूप आत्माको तथा आत्माके आश्रित सत्यकाम सत्यसङ्कल्प आदिक गुणोंको शास्त्र व आचार्यके उपदेशके अनन्तर स्वयं अनुभव करके इस देहका त्यागपूर्वक जो मनुष्य परलोकको जाते हैं सो सार्वभौम राजाकी तरह सर्वलोकमें कामचार होते हैं । अर्थात् जिस लोकमें जानेकी इच्छा करते हैं उस लोकमें जा सकते हैं । तथा जिन पदार्थोंकी प्राप्तिकी इच्छा करते हैं तिन पदार्थोंको प्राप्त होते हैं इति । यह मन्त्र प्रसङ्गमें प्राप्त दहराकाशके विज्ञानका अनन्त फलको कहता हुवा दहराकाशमें परमात्मत्वको सूचन करता है ।

और वादीने जो पूर्व कहा था कि—दहराकाशमें अन्वेष्टव्यत्व तथा विजिज्ञासितव्यत्वका श्रवण नहीं होता है । किन्तु परत्र अन्वेष्टव्य तथा विजिज्ञासितव्य जो द्यावापृथिवी आदिक हैं तिनोंका विशेषणरूप करके व आधाररूप करके दहराकाशका श्रवण होता है, अतः दहराकाश उपास्य नहीं है इति । सो भी वादीका कहना असङ्गत है । क्योंकि यदि दहराकाश अन्वेष्टव्य न होवे तो **'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः'** । इत्यादिक मन्त्र करके जो आकाशके स्वरूपका प्रदर्शन किया है तिसका उपयोग न हो सकेगा ।

शंका । यह जो आकाशके स्वरूपका प्रदर्शन है सो भी आकाशके अन्तर

स्थित द्यावापृथिवी आदिक उपास्य वस्तुके सद्भावको दिखानेके लिये ही है। क्योंकि श्रुतिने स्वयं ही 'तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यम्' इत्यादि मन्त्र करके शिष्यके, दहराकाशके अन्तर स्थित वस्तुविषयक आक्षेपको दिखाकर; परिहारके अवसरमें 'यावान्वा' इत्यादि मन्त्रसे आकाशकी उपमाका उपक्रम करके आगे 'उभे अस्मिन्' इस मन्त्रसे द्यावापृथिवी आदिकका दहराकाशके अन्तर सद्भावको दिखाया है। अतः आकाशके अन्तर स्थित वस्तु ही उपास्य है दहराकाश नहीं।

समाधान। यह भी वादीका कहना असङ्गत है; क्योंकि यदि आकाशके अन्तर स्थित स्वर्गादिकोंके स्वरूप प्रदर्शनके लिये ही 'यावान् वा' इत्यादिक मन्त्रको मानोगे तो "जो द्यावापृथिवी आदिक दहराकाशके अन्दर समाहित हैं सोई अन्वेष्टव्य व विजिज्ञासितव्य हैं" यह अर्थ उक्त होवेगा। परन्तु ऐसा माननेसे वाक्यशेषकी उपपत्ति न होगी। इस अर्थको दिखाते हैं—**'अस्मिन् कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा'**। अर्थ— इस दहराकाशरूप अपने आत्मामें सम्पूर्ण कामादिक स्थित हैं; और यह आत्मा पापादिक रहित है इति। यहां 'अस्मिन्' तथा 'एष' शब्दसे प्रकृत द्यावापृथिवी आदिककी स्थितिका आधारभूत दहराकाशका आकर्षण करके—**'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्'**। इस मन्त्रमें स्थित समुच्चय अर्थका बोधक 'च' शब्द करके; कामादिकोंका आधाररूप आत्माको तथा आत्माके आश्रित कामादिक गुणोंको विशेषरूप करके विज्ञेय यह पूर्वोक्त वाक्यशेष दिखाता है। अर्थात् आत्मत्व, पापरहितत्व, सत्यकामादिक गुणविशिष्ट दहराकाशको ध्येयरूप करके जो यह वाक्यशेष कहता है; सो यह वाक्यशेष स्वर्गादिकोंको ही उपास्य माननेसे अनुपपन्न होगा। इस अनुपपत्तिको दूर करनेके लिये—"अथ यदिदमस्मिन्" इत्यादि वाक्योपक्रममें भी हृदयपुण्डरीक है आधार जिसका ऐसा जो अन्तर्यामी ब्रह्मरूप दहराकाश है सो दहराकाश ही स्वर्ग, पृथिवी, आदिके व सत्यकामादिक गुणोंके सहित विज्ञेय कहा है। ऐसा निश्चय होता है। अर्थात् 'तस्मिन् यदन्तः' यहां पर जो 'तत्' शब्द है सो 'यावान्वा' इत्यादिक वाक्यशेषबलसे अव्यवहित आकाशको उलङ्घन करके व्यवहित हृत्पुण्डरीकका बोधक है। अथवा 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' यहां पर आकाश शब्द भूताकाशका ही वाचक है। 'तस्मिन् यदन्तः' यह तत् शब्द अव्यवहित भूताकाशका ही परामर्शक है। परन्तु 'तस्मिन् यदन्तः' इस 'अन्तः' शब्द करके भूताकाशके अन्तर विद्यमान अन्तर्यामी चिदाकाशका ग्रहण करना। यह चिदाकाश ही मुख्य अन्वेष्टव्य व विजिज्ञासितव्य है। अत एव इसी चिदाकाशका 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदयाकाशः' यहां पर हृदयाकाश शब्द करके परामर्श है। इन पूर्वोक्त कारणोंसे दहराकाश परमेश्वर है यह सिद्ध हुवा इति। यहां पूर्वपक्षमें भूताकाशकी उपासना फल है। सिद्धान्तमें सगुण ब्रह्मकी उपासना करके निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार फल है इति॥ १४॥

उत्तर वाक्यशेषगत हेतुवोंसे दहराकाश परमेश्वर है इस अर्थको कह आये हैं। तिन हेतुवोंको ही अब विस्तारसे दिखाते हैं:—

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥

अर्थ—१ गतिशब्दाभ्याम्, २ तथा, ३ हि, ४ दृष्टम्, ५ लिङ्गम्, ६ च। इस सूत्रमें छ पद हैं। इस हेतुसे भी दहराकाश शब्द करके परमेश्वरका ही ग्रहण करना क्योंकि वाक्यशेषमें परमेश्वरके ही प्रतिपादक गति तथा शब्दरूप हेतु हैं। 'तथा हि' तैसे ही वेदमें और लोकमें 'दृष्टम्' देखा है। और इस अर्थका बोधक लिङ्ग भी है इति।

इस अर्थमें श्रुतिको दिखाते हैं—'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति'। अर्थ–जैसे किसीके घरमें पृथिवीसे ढकी हुई निधि होवे तो घरके पुरुष उसके उपर उपर चलते हैं। परन्तु अज्ञानवश निधिको प्राप्त होते नहीं। इसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रजारूप जो जीव हैं सो हृदयमें स्थित ब्रह्म स्वरूप लोकको सुषुप्ति अवस्थामें प्रतिदिन प्राप्त हुये भी अर्थात् दहरस्वरूप ब्रह्मात्मरूप करके स्थित हुये भी अज्ञान करके आवृत होनेसे इस ब्रह्मरूप लोकको नहीं जानते हैं इति।

इस श्रुतिमें जो ब्रह्मलोक शब्द है तिस ब्रह्मलोक शब्दसे प्रसङ्गमें प्राप्त दहराकाशका अभिधान करके, प्रजा शब्दके वाच्य जो जीव हैं; तिन जीवोंकी प्रतिदिन तिस ब्रह्मस्वरूप लोकविषयक जो गतिका अभिधान है सो दहराकाशमें ब्रह्मरूपताको बोधन करता है। 'तथाहि' कहिये तिसी प्रकार श्रुत्यन्तरमें भी जीवोंकी, सुषुप्ति अवस्थामें प्रतिदिन ब्रह्मविषयक गति देखनेमें आती है। तहां श्रुतिः—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति'। अर्थ—हे प्रियदर्शन श्वेतकेतो! 'तदा' कहिये सुषुप्ति दशामें 'सता संपन्नो भवति' कहिये सद्रूप ब्रह्मके साथ यह जीव अभेदभावको प्राप्त होता है इति। 'स्वमपीतो भवति' अपने स्वरूपको प्राप्त होता है इत्यादि। तथा लोकमें भी गाढ़ सुषुप्त जीवको कहते हैं कि—'ब्रह्मीभूतो, ब्रह्मतां गतः' इत्यादि।

इस पूर्वोक्त रीतिसे गतिरूप लिङ्गको कह करके अब शब्दरूप लिङ्गको दिखाते हैं—तथा प्रकृत दहराकाशमें प्रयुज्यमान जो 'ब्रह्मलोक' शब्द है सो भी दहरपद करके प्राप्त जो जीव तथा भूताकाश विषयक शंका है तिसको निवृत्त करता हुवा दहराकाशमें ब्रह्मत्वको बोधन करता है। क्योंकि जीव व भूताकाशमें ब्रह्मलोक शब्द प्रसिद्ध है नहीं।

शंका। ब्रह्मलोक शब्द जो है सो ब्रह्म स्वरूप लोकको नहीं बोधन करता है। क्योंकि प्रायशः ब्रह्मलोक शब्द कमलासन जो ब्रह्मा है तिस ब्रह्माके लोकको बोधन करता है; अतः दहरमें ब्रह्मलोक शब्द करके ब्रह्मत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

समाधान। यदि 'ब्रह्मणः लोको ब्रह्मलोकः' इस प्रकार षष्ठी समासका

आश्रयण करें तो ब्रह्मलोक शब्द कमलासनके लोकका बोधन करे। परन्तु यहां षष्ठी समासका आश्रयण नहीं करना। क्योंकि **'निषादस्थपतिं याजयेत्'** इस न्याय करके षष्ठी समाससे कर्मधारय समास बलवान् है। यह वार्ता तो यद्यपि शास्त्रमें प्रसिद्ध ही है। तथापि प्रसङ्गमें षष्ठी समासका खण्डन करके कर्मधारय समासके स्थापन करनेके लिये सूत्रमें सूत्रकारने अधिक 'लिङ्गं च' इस प्रकार लिङ्गको भी कहा है। तहां लोक तथा वेदमें प्रसिद्ध जो सुषुप्ति अवस्थामें प्रतिदिन ब्रह्मलोककी प्राप्तिरूप गति है यही गति ब्रह्मलोक शब्दकी सामानाधिकरण्य वृत्तिके स्वीकारमें लिङ्ग है। अथवा इस गतिके अभिधानका नाम यहां लिङ्ग है। और यह जो लिङ्ग है सो प्रतिदिन कमलासनके लोकको प्राप्तिका असम्भव होनेसे षष्ठी समासकी शंकाको निवृत्त करता हुवा ब्रह्मलोक शब्द करके ब्रह्मरूप दहराकाशको ही बोधन करता है। तथा च यहां दहराकाश ब्रह्मका लोक नहीं है किन्तु दहराकाश ब्रह्म ही है। अतः 'ब्रह्म चासौ लोकश्चेति ब्रह्मलोकः' 'ब्रह्म स्वरूप ही लोक है' इस प्रकार कर्मधारय समास ही सिद्ध हुवा इति। और भगवान् भाष्यकार भी कहते हैं कि-'ब्रह्मैव लोकः ब्रह्मलोकः' ब्रह्मरूप ही जो लोक है तिसका नाम यहां ब्रह्मलोक है। इस प्रकार सामानाधिकरण्य वृत्ति (कर्मधारय) करके व्युत्पाद्यमान जो ब्रह्मलोक शब्द है सो परमेश्वरको ही बोधन करता है। क्योंकि "यह जीव प्रतिदिन कार्यब्रह्मलोकरूप सत्यलोकको प्राप्त होता है" ऐसी कल्पना नहीं कर सकते हैं। अतः गति तथा शब्द रूप हेतुसे हृदयकमलरूप स्थानमें स्थित जो दहराकाश है सो परमात्मा ही है यह सिद्ध हुवा इति ॥ १५ ॥

और अब "सर्व जगत्का धारणरूप लिङ्गसे भी दहराकाश परमात्मा ही है" इस अर्थको दिखाते हैं—

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

अर्थ—१ धृतेः, २ च, ३ महिम्नः, ४ अस्य, ५ अस्मिन्, ६ उपलब्धेः। इस सूत्रमें छ पद हैं। 'धृति' कहिये सर्व जगत्का धारणात्मक महिमारूप हेतुसे भी परमेश्वर ही दहराकाश है क्योंकि यह धृतिरूप महिमा अन्य श्रुतियोंमें परमेश्वरमें ही प्रसिद्ध है इति।

शंका। "अथ य आत्मा स सेतु" इस वक्ष्यमाण श्रुतिमें जो 'अथ' शब्द है तिस अथ शब्द करके दहराकाशके प्रकरणका विच्छेद हो जानेसे इस श्रुतिमें श्रुत जो धृति है सो दहराकाशकी बोधक लिङ्ग नहीं हो सकती है।

समाधान। इस 'अथ' शब्दसे प्रकरणका विच्छेद नहीं हो सकता है क्योंकि श्रुतिने **'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः'** इस मन्त्र करके दहराकाशको प्रसङ्गमें प्राप्त करके, तथा आकाशकी उपमा पूर्वक तिस दहराकाशमें सर्व जगत्का आधारत्वको प्रथम कहा है। इसके अनन्तर भूताकाशविषयक शंकाकी निवृत्तिके लिये तिस दहराकाशमें ही आत्म शब्दका प्रयोग किया है। तदनन्तर जीवविषयक शंकाकी निवृत्तिके

लिये अपहतपाप्मत्वादिक गुणोंके सम्बन्धका उपदेश करके, पुनः नहीं विच्छिन्न हुवा है प्रकरण जिस दहराकाशका तिस प्रकृत दहराकाशको ही श्रुति दिखाती है—

तहां छान्दोग्य श्रुतिः—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय'। अर्थ—प्रकारान्तर करके दहराकाशकी स्तुतिका प्रारम्भार्थक 'अथ' शब्द है। और 'आत्मा विधृतिः' इस प्रकार आत्मशब्दका विधृति शब्दके साथ सामानाधिकरण्यके होनेसे यहां विधारयिता अर्थात् विधारणका कर्ता 'विधृति' शब्दका अर्थ है। इस श्रुतिमें विधृति शब्द कर्ताका वाचक होनेसे क्तिजन्त है। परन्तु इस सूत्रमें धृति शब्द महिमाके समानाधिकरण होनेसे क्तिनन्त है। और जैसे लोकमें क्षेत्र सम्पदाके 'असंभेदाय' कहिये असंकर (अविनाश) के लिये जलके समूहको धारण करनेवाला जो पुल है सो 'सेतु' कहा जाता है। तैसे ही अध्यात्मादिक भेद करके विभिन्न जो स्वर्गादिक लोक हैं; तथा वर्णाश्रमादिक हैं तिनोंके 'असंभेदाय' कहिये अविनाशके लिये यह आत्मा सर्वके विधारणका कर्ता है व सेतु है। यहां असंकरका हेतु सेतु शब्दका अर्थ है। और स्थितिका हेतु विधृति शब्दका अर्थ है। अतः पुनरुक्ति भी नहीं होती है इति। यह मन्त्र पूर्वोक्त रीतिसे इस प्रकृत दहराकाशमें ही विधारण (नियमन) रूप महिमाको दिखाता है।

और यह नियमनरूप महिमा श्रुत्यन्तरमें भी परमेश्वर विषे ही देखनेमें आती है। तहां बृहदारण्यक श्रुतिः—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः'। अर्थ—हे गार्गि। इस अक्षररूप परमात्माके प्रशासनरूप नियमनमें ही सूर्यचन्द्रमा विषयरूप करके धारण किये हुये स्थित हैं इति। तथा अन्यत्र भी निश्चित परमेश्वरवाक्यमें विधृतिका श्रवण होता है। 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय' (बृ०)। अर्थ—यह परमात्मा सर्वका ईश्वर है तथा भूतोंका अधिपति है तथा भूतोंका पालक है तथा लोकोंके असम्भेदके लिये विधारयिता सेतु है इति। इस मन्त्रमें भी सम्पूर्ण जगत्का विधारणरूप महिमा परमेश्वरकी ही कही है। अतः उक्त धृतिरूप हेतुसे यह दहररूप आकाश परमेश्वर ही है यह सिद्ध हुवा इति ॥ १६ ॥

दहराकाश परमात्मा है इसमें अन्य हेतुको दिखाते हैं:—

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

अर्थ—१ प्रसिद्धेः, २ च,। इस सूत्रमें दो पद हैं। इस प्रसिद्धिरूप हेतुसे भी परमेश्वर ही दहराकाश है, क्योंकि आकाश शब्द परमेश्वरमें ही प्रसिद्ध है इति। तहां श्रुतिः—'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता'। 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते'। अर्थ—नामरूप जगत्का निर्वाह करनेवाला आकाशरूप आत्मा प्रसिद्ध है। तथा आकाशादिक सम्पूर्ण भूत चिदाकाशसे ही उत्पन्न होते हैं इति। इत्यादि मन्त्रोंमें नामरूपका निर्वाहक तथा भूताकाशादिकोंका कारणरूप,

परमात्मामें ही आकाश शब्दका प्रयोग देखनेमें आता है। अतः आकाश शब्द करके परमात्माका ही ग्रहण करना जीव तथा भूताकाशका नहीं। क्योंकि कहीं भी जीवमें आकाश शब्दका प्रयोग देखनेमें नहीं आता है। और यद्यपि भूताकाशमें आकाश शब्द प्रसिद्ध है; तथापि उपमानउपमेयभावका असम्भव होनेसे भूताकाश भी ग्राह्य नहीं है यह पूर्व कह आये हैं इति ॥ १७ ॥

यदि 'एष आत्मापहतपाप्मा' इत्यादिक परमेश्वरविषयक वाक्यशेषके बलसे दहराकाश परमात्मा है; तो 'अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्' इत्यादि जीवविषयक वाक्यशेषके बलसे जीव भी दहराकाश होना चाहिये? ऐसी शंका करके समाधानको सूत्रकार दिखाते हैं:—

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् ॥ १८ ॥

अर्थ—१ इतरपरामर्शात्, २ सः, ३ इति, ४ चेत्, ५ न, ६ असम्भवात्। इस सूत्रमें छ पद हैं। "'इतर' कहिये ब्रह्मसे भिन्न जीवका 'अथ य एष संप्रसादः' इस वाक्यशेषमें परामर्श होनेसे 'सः' कहिये सो जीव ही दहराकाश है" ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार कहते हैं 'न, असम्भवात्' परमात्माके धर्मोंका जीवमें † असम्भव होनेसे जीव दहराकाश नहीं हो सकता है इति।

अब इस सूत्रके शंकासमाधानको स्पष्ट करके दिखाते हैं:—

शंका। 'अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच'। इस मन्त्रमें जो 'संप्रसाद' शब्द है सो सुषुप्तिका वाचक है। क्योंकि सुषुप्तिमें जीव जो है सो विषय इन्द्रियके संयोग करके जन्य भोगरूप कालुष्यको त्याग करता हुवा सम्यक् आनन्दको प्राप्त होता है। अतः जीवकी ही अवस्थाविशेष संप्रसाद है ब्रह्मकी नहीं। तथा 'संप्रसादे रत्वा चरित्वा' इस बृहदारण्यक श्रुतिमें भी, संप्रसाद शब्द सुषुप्ति अवस्था विषे ही देखनेमें आता है। अतः यहां 'संप्रसाद' शब्द संप्रसादरूप सुषुप्ति अवस्थावाले जीवको ही बोधन करेगा अन्यको नहीं। क्योंकि असङ्ग परमेश्वरका सुषुप्ति आदिकसे सम्बन्ध बने नहीं। और 'अस्माच्छरीरात्समुत्थाय' इस शरीरसे समुत्थानरूप लिङ्ग करके भी प्रकृत 'दहराकाश' शब्दसे जीव ही प्रतीत होता है। क्योंकि जैसे आकाशके आश्रित वायु आदिकोंका आकाशसे उत्थान होता है; तैसे शरीरके आश्रित जीवका ही शरीरसे उत्थान होवेगा; शरीरके अनाश्रित ब्रह्मका नहीं। इस पूर्वोक्त रीतिसे वाक्यशेषगत संप्रसाद

† यद्यपि जीवके धर्मोंका भी परमेश्वरमें असम्भव तुल्य ही है; तथापि अन्तःकरणविशिष्ट आभासरूप जीवको मिथ्या होनेसे सर्वज्ञत्वादिकी अधिष्ठानता नहीं बन सकती है। और चिद्रूप परमेश्वरको सत्य होनेसे सुषुप्ति आदिकी अधिष्ठानता बन सकती है।

तथा समुत्थानरूप धर्म करके जीव ही दहराकाश है। यदि सिद्धान्ती कहे कि—कहीं भी जीवमें आकाश शब्द देखनेमें नहीं आता है? यह कहना असङ्गत है। क्योंकि सुषुप्ति अवस्था तथा समुत्थानरूप लिङ्ग करके जीवमें आकाश शब्दकी कल्पना कर सकते हैं। जैसे लोकमें परमेश्वरविषयक आकाश शब्द नहीं भी देखा है, तथापि वाक्यशेषमें परमेश्वरके अपहतपाप्मत्वादिक धर्मोंका प्रतिपादन होनेसे 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादिक स्थलमें परमेश्वरविषयक आकाश शब्दको अङ्गीकार किया है। तैसे 'अथ य एष सम्प्रसादो' इत्यादि वाक्यशेष गत लिङ्गोंसे जीवविषयक भी आकाश शब्द हो जावेगा। अतः संप्रसाद तथा उत्थानरूप लिङ्ग करके ब्रह्मसे इतर जीवका परामर्श होनेसे **'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः'** यहां पर जिसका शरीरसे समुत्थान हो सकता है तिस जीवका ही 'दहराकाश' शब्द करके ग्रहण करना ब्रह्मका नहीं इति।

समाधान। यह वादीका यह कहना असंगत है; क्योंकि बुद्ध्यादि उपाधि करके परिच्छिन्नत्वाभिमानी जो जीव है तिसकी 'यावान्वा अयमाकाशः' यह आकाश करके उपमाका असम्भव होगा। और उपाधिके धर्म पुण्यपाप व अल्पज्ञत्वादिकोंको अपनेमें माननेवाले जीवमें अपहतपाप्मत्व सत्यसङ्कल्पादिक जो दहराकाशमें श्रुत धर्म हैं तिन धर्मोंका भी असम्भव होगा। अतः जीव दहराकाश नहीं हो सकता है। और इस अर्थको पूर्व (सू० १४ में) भी विस्तारसे कह आये हैं इति।

शंका। जब पूर्व भी इस अर्थका निरूपण कर आये हो और अबी भी निरूपण करते हो, तब पुनरुक्ति दोष प्राप्त हुवा?

समाधान। दहरत्वरूप अल्पत्व श्रुतिसे दहराकाशमें जीवत्व शंकाकी निवृत्तिके लिये अपहतपाप्मत्वादिके असम्भवको 'दहर उत्तरेभ्य' इस पूर्व सूत्रमें कहा। और सम्प्रसाद व समुत्थानरूप लिङ्गको जीवका परामर्शक होनेसे पुनः दहराकाशमें जीवत्वशंकाकी निवृत्तिके लिये अपहतपाप्मत्वादिके असम्भवको "इतरपरामर्शात् स' इस सूत्रमें कहा है। अतः, अतिरिक्त शंकापरिहाररूप फलान्तरको विद्यमान होनेसे पुनरुक्ति दोष नहीं हो सकता है। **"शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्'** यह गौतमसूत्र है। अर्थ—अनुवादसे भिन्न स्थलमें पुनरुक्ति होती है सो दो प्रकारकी है—एक शब्दकी पुनरुक्ति, दूसरो अर्थकी पुनरुक्ति-समानानुपूर्वीवाले निष्फल पुनर्भाषणका नाम शब्दपुनरुक्ति है। समानार्थक भिन्नानुपूर्वीवाले शब्दका निष्फल पुनरभिधानका नाम अर्थपुनरुक्ति है इति। तथा च सफल पुनरभिधानका नाम पुनरुक्ति नहीं है, अतः प्रकृतमें अतिरिक्त शंकानिवृत्तिरूप फलको विद्यमान होनेसे पुनरुक्ति दोष नहीं बन सकता है।

शंका। 'अथ य एष संप्रसादो' इस मन्त्रमें स्थित संप्रसाद आदिक शब्दों करके जो जीवका परामर्श है तिसकी फिर क्या गति होगी।

समाधान। 'अन्यार्थश्च परामर्शः'। इस तृतीय पादके बीसवें सूत्रमें सूत्रकार स्वयं इस परामर्शकी गतिको कहेंगे। अर्थात् सम्प्रसाद मन्त्र जीव परक नहीं है किन्तु जीवके स्वापका आधाररूप जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मके ज्ञानके लिये ही इस मन्त्रमें जीवका परामर्श है। इस पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्म ही दहराकाश है जीव नहीं यह सिद्ध हुवा इति।

शंका। 'अथ य एष संप्रसादो' यह मन्त्र यदि जीव परक नहीं है तो इस पूर्वोक्त श्रुतिका फिर क्या अर्थ है।

समाधान। सिद्धान्तके अनुसार 'अथ य एषः' इत्यादि मन्त्रका अर्थ-'अथ' दहराकाशकी उक्तिसे अनन्तर मुक्त पुरुषों करके प्राप्य शुद्ध ब्रह्मको कहते हैं। 'य एष संप्रसादः' जो सम्यक् प्रसन्न विद्वान् विवेकी जीव है सो 'अस्माच्छरीरात्' कार्यकारणरूप सङ्घातसे 'समुत्थाय' आत्माको पृथग् करके अर्थात् तीनों शरीरोंमें आत्मत्वाभिमानको त्याग करके 'परं ज्योतिः' शरीरसे पृथग् निश्चय किया हुवा जो स्वयंज्योतिरूप पर ब्रह्म है तिसको 'उपसम्पद्य' स्वात्मरूपसे साक्षात्कार करके 'स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते' प्रत्यग् अभिन्न परब्रह्मरूप जो स्वस्वरूप है तिसको प्राप्त होता है। 'एष आत्मेति होवाच' आचार्य शिष्यके प्रति कहते हैं कि-हे शिष्य! यह स्वत अपरोक्ष पूर्वोक्त ज्योतिरूप ब्रह्म तुम्हारा आत्मा है इति ॥ १८ ॥

'असंभवात्' इस पूर्वोक्त हेतुकी असिद्धिकी शंका करके समाधानको सूत्रकार दिखाते हैं:—

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

अर्थ—१ उत्तरात्, २ चेत्, ३ आविर्भूतस्वरूपः, ४ तु। इस सूत्रमें चार पद हैं।

प्रश्न—सिद्धान्तीने जो जीवविषयक उत्पन्न हुई शंकाका 'असंभवात्' इस हेतुसे निराकरण किया है, तिस शंकाको जैसे मृत प्राणीका अमृत सिञ्चनसे जीवन होता है। तैसे 'उत्तरात्' प्रजापति ब्रह्माके वाक्यरूप अमृतसे पुन उत्थानको हम करते हैं। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि-जीवमें भी अपहतपाप्मत्वादिक गुणोंका सम्भव होनेसे 'असम्भवात्' यह हेतु असिद्ध है। अतः जीव ही दहराकाश है ब्रह्म नहीं। इस सूत्रमें 'चेत्' शब्द शंका का द्योतक है।

उत्तर—यह वादीका कहना असङ्गत है क्योंकि 'आविर्भूतस्वरूपस्तु' प्रजापतिके वाक्यमें, अविद्यादिक उपाधिशून्य महावाक्यजन्य वृत्ति करके अभिव्यक्त अर्थात् आविर्भावको प्राप्त है स्वरूप जिसका ऐसा शुद्ध ब्रह्मरूप जीवका जो वस्तुतः स्वरूप है तिसका ग्रहण किया है सोपाधिक जीवका नहीं। अतः ब्रह्म ही दहराकाश है जीव नहीं इति।

अब इस सूत्रके शंका व समाधानको विस्तारसे दिखाते हैं—

शंका। प्रजापतिके वाक्यसे जीव ही दहराकाश रूप करके ग्रहण करनेको योग्य है ब्रह्म नहीं, क्योंकि छान्दोग्यके अष्टमाध्यायमें दहराकाशका वर्णन करते हुये दहराकाशके ही प्रकरणमें यह उपाख्यान है कि-'य आत्मा अपहत-

पाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको' 'सोऽन्वेष्टव्यः' 'स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच'।

अर्थ—'जो आत्मा सर्व पापादि दोषों करके रहित है' 'सो अन्वेषण (श्रवणमनन) करनेको योग्य है' तथा विशेषरूपसे तिस आत्माको जाननेकी इच्छा करनी चाहियें। 'जो तिस आत्माको शास्त्र व गुरुसे जानकर स्वयं अनुभव करता है; सो सर्व लोकोंको व सर्व कामोंको प्राप्त होता है यह प्रजापति कहते भये। अर्थात् यह वेदकी व प्रजापतिकी प्रतिज्ञा है' इति।

इस वचनको देवता व असुर श्रवण करके आपसमें विचार करने लगे कि—"तिस आत्माका हम लोग अन्वेषण करें जिस आत्माका अन्वेषण करके सर्व लोकोंको व सर्व कामोंको यह जीव प्राप्त होता है" इस प्रकार आपसमें विचार करके देवतावोंमेंसे प्रधान देवराज इन्द्र आत्मसाक्षात्कारके लिये तीनों लोकोंकी राज्यलक्ष्मीको त्यागकर प्रजापतिसे उपदेश लेनेके लिये चले। और असुरोंमेंसे विरोचन चले। मार्गमें दैवयोगसे दोनोंका संयोग हो गया। यद्यपि दोनोंकी आपसमें नकुलसर्पकी तरह शत्रुता थी तथापि दैवासुर संग्रामके छिड़ जानेपर ब्रह्मविद्यारूप प्रकृत उद्देशकी असिद्धिके भयसे शत्रुताको त्यागकर परस्पर मिलकर ही प्रजापतिके पास आये। आकर प्रजापतिकी सेवामें तत्पर होकर ब्रह्मचर्य करने लगे। बत्तीस वर्षके बाद ब्रह्माजीने इनसे पूछा कि—आप लोग किस कामके लिये यहांपर वास कर रहे हैं?

इन्द्र व विरोचन—**'य आत्मा अपहतपाप्मा'** इत्यादि आपके वचनको श्रवण करके तिस आत्माको जाननेकी इच्छासे हम आपकी सेवामें तत्पर हैं।

प्रजापति—**'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा'**। अर्थ—जो यह 'अक्षिणि' नेत्रमें द्रष्टारूप पुरुष योगियोंको देखनेमें आता है यही सर्व पापादि रहित आत्मा है इसके विज्ञानसे ही सर्व लोकोंकी व कामोंकी प्राप्ति होती है यही अमृत और अभय भूमा ब्रह्मरूप है इति। उक्त आत्माके अन्वेषण व विजिज्ञासा की प्रतिज्ञाके अनन्तर 'य एषो' इस वाक्यको कहते हुये प्रजापति यहां अक्षिमें स्थित द्रष्टा जीवात्माका निर्देश करते हैं। अर्थात् इस मन्त्रमें सर्व इन्द्रियोंमें प्रधान नेत्रका ग्रहण होनेसे सर्व इन्द्रियजन्य दर्शनरूप जाग्रत् अवस्था करके सम्पन्न द्रष्टा आत्मा उपदिष्ट है ऐसा बोध होता है। इस प्रजापतिके वचनको श्रवण करके मलिन चित्त होनेसे इन्द्र और विरोचन छायापुरुषको आत्मा समझते भये। छायापुरुषको निश्चय करके पूछने लगेः—

इन्द्र व विरोचन—हे भगवन्! जो पुरुष जलमें दीखता है सो आत्मा है? अथवा जो दर्पणमें व खड्गादिकोंमें दीखता है सो आत्मा है? अर्थात जितने जलादिकोंमें छायापुरुष हैं सो सर्व ही आत्मा हैं? अथवा इनोंमेंसे कोई एक आत्मा है? इस प्रश्नको श्रवण करके ब्रह्माजी विचार करने लगे कि—"अहो बड़ा आश्चर्य है यह लोग तो अत्यन्त भ्रान्त हैं। क्योंकि हमने अक्षिस्थ द्रष्टा पुरुषका उपदेश

किया है; यह लोग छायापुरुषको आत्मा निश्चय किये हैं। यदि मैं इनको सहसा कहूं कि—"यह छायापुरुष आत्मा नहीं है आपलोग भ्रान्त हैं" तो ये अपनेको पण्डित माननेवाले मेरे वचनको यथावत् ग्रहण नहीं करेंगे। अतः इनके आशयके अनुसार ही इनको तत्त्वोपदेश करना चाहिये"। इस अभिप्रायसे प्रजापति कहने लगे—'एष उ एवैषु सर्वेष्वेतेषु परिख्यायते' इति। अर्थ—यही आत्मा इन सर्वमें प्रतीत होता है; यह अमृत अभय ब्रह्मरूप है इति। उदशरावमें अपने आत्माको देखो फिर इस विषयमें जो आपके समझमें नहीं आवे सो पूछना।

इसके अनन्तर इन्द्र और विरोचन उदशरावमें देखकर उदशरावगत छाया-पुरुषको आत्मरूपसे निश्चय करके सन्तुष्ट हो गये, प्रजापतिसे कुछ भी प्रश्न नहीं किये।

इसके अनन्तर "ये विपरीतग्राही न होवें" इस अभिप्रायसे प्रजापति स्वयं इन्द्र व विरोचनको पूछने लगे—'किं पश्यथ इति' क्या देखते हो?

इन्द्र व विरोचन— हे भगवन्! जिस प्रकार दीर्घ नख लोमादिमान् यह शरीर है इसीके सदृश दीर्घ नख लोमादिमान् उदशरावगत आत्माको हम देखते हैं।

ब्रह्माजी इस वचनको श्रवण करके इनका छायापुरुषमें आत्मविभ्रमको दूर करनेकी इच्छासे "जैसे कुडयादिका प्रतिबिम्ब आत्मा नहीं है; तैसे ही देहके अलङ्कारसे अलंकृत और देहके अलंकृत न होनेसे अनलंकृत और उत्पत्ति नाशादिमान् विकारी छायापुरुष भी अविकारित्वादि आत्मलक्षणहीन होनेसे आत्मा नहीं है। और छाया करनेवाले आगमापायी नख लोम व वस्त्र अलङ्कारादिक जैसे आत्मा नहीं हैं। तैसे ही यह देह भी आत्मा नहीं है किन्तु देहादिसे भिन्न आत्मा है। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक करके ये लोग आत्माको निश्चय करें" इस अभिप्रायसे इन्द्र व विरोचनके प्रति बोले—

'साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूंत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति'।

अर्थ—क्षौर क्रिया करके नखलोमादि रहित सुन्दर अलंकृत होकर अच्छे वस्त्रोंको धारण करके परिष्कृत होकर उदशरावमें देखो इति।

जब प्रजापतिने इस प्रकार कहा तब इन्द्र व विरोचन सुन्दर वस्त्रोंको धारण करके और साध्वलंकृत व परिष्कृत होकर उदशरावमें देखते भये। परन्तु छायापुरुषमें आत्मबुद्धि नष्ट न हुई।

जब इस प्रकार अशेष मिथ्या विभ्रमका नाशक साधु अलङ्कारादि दृष्टान्तसे भी इन्द्रविरोचनका छायापुरुषमें आत्मत्वनिश्चय न गया—उत्पत्ति विनाशादि विकार देख करके भी कुछ भी शंका नहीं हुई, किन्तु पूर्ववत् छायामें आत्मबुद्धि दृढ़ ही रही, और छायापुरुषमें दृढ़ आत्मनिश्चयके बलसे सन्तुष्ट ही रहे, कुछ भी

जिज्ञासा इनको नहीं हुई, तब कृपालु प्रजापति स्वयं इन्द्र व विरोचनसे पुनः पूछते भये-किं पश्यथ इति।

इन्द्र व विरोचन—हे भगवन्! जिस प्रकारसे साधु अलंकृत सुवसन हम हैं इसी प्रकारसे साधु अलंकृत सुवसन यह छायापुरुषरूप आत्मा भी है।

इस उत्तरको श्रवण करके प्रजापति मनमें विचार करने लगे "अहो बड़े आश्चर्यकी वार्ता है, क्योंकि इनका विभ्रम अभीतक शान्त नहीं हुवा है। त्रैलोक्याधिपत्यरूप लक्ष्मीके स्वामी होनेपर भी, और देव व असुरोंमें प्रधान होने पर भी, और अपहतपाप्मत्व जरादिरहितत्व मरणादिविकाररहितत्वादिरूप आत्माके लक्षणको जान करके भी, और उक्त लक्षण लक्षित आत्माकी जिज्ञासासे त्रैलोक्याधिपत्य त्यागपूर्वक मेरे सदृश जगत्गुरुके समीपमें आकर बत्तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुसेवामें तत्पर हो करके भी, और मुझसे **'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा'** इत्यादि साक्षात् इस आत्माके उपदेशको श्रवण करके भी छायापुरुषमें ही इनको आत्मत्वका निश्चय हुवा है। और यद्यपि मैंने इनके इस विपरीत निश्चयको दूर करनेके लिये उदशरावका व साध्वलङ्कारका दृष्टान्त कहा, तथापि इनका छायापुरुषमें आत्मत्वनिश्चय ज्योंका त्यों दृढ़ बना हुवा है। इससे यह निश्चय होता है कि—"इनके विवेकविज्ञानकी सामर्थ्यका प्रतिबन्धक कोई जबरदस्त पाप है जिसके सबबसे इनको आत्माका विवेक नहीं होता है। अतः पुनः मैं इनको आत्मतत्त्वका उपदेश करूं, सम्भव है कदाचित् मेरे उपदेशको श्रवण करके अमृतरूप आत्माके लक्षणकी स्मृतिद्वारा आगमापायी छायापुरुषविषयक आत्मत्वविभ्रमकी शान्ति हो जावे" ऐसा विचार करके प्रजापति बोले—**'एष आत्मेति' 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति'**। अर्थ—'यह पूर्वोक्त अक्षिका द्रष्टारूप आत्मा अपरोक्ष है' 'और यह अविनाशी है, अभय है, और यह भूमा ब्रह्मस्वरूप है' इति।

मल विक्षेप दोष अधिक होनेके कारण इन्द्र व विरोचनकी बुद्धि इस उपदेशको ग्रहण करनेमें भी समर्थ नहीं हुई। अर्थात् यह उपदेश भी शाब्दबोधजननद्वारा अविनाशित्वादिरूप आत्मलक्षणकी स्मृति करके छायापुरुषमें आत्मत्वविभ्रमकी शान्ति न कर सका। और छायापुरुषमें आत्मत्व निश्चयसे सन्तुष्ट शान्त हृदय होकर इन्द्र व विरोचन अपने अपने गृहके प्रति आगमन किया।

शंका। प्रजापतिने अकृतार्थ इन्द्रविरोचन जैसे शिष्योंको गृहके प्रति क्यों जाने दिया? पुनः उपदेश क्यों नहीं किया? यदि उपदेश ग्रहणकी योग्यता नहीं थी तो पुनः ब्रह्मचर्यादिक साधनोंमें क्यों प्रवृत्त नहीं किया? उपेक्षा क्यों करी?

समाधान। अपहतपाप्मत्वादिक आत्माके लक्षण श्रवणसे, और नेत्रादि

द्रष्टारूप आत्माकी प्रतिपादक 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादिक श्रुतिके श्रवणसे, उदशरावादिक दृष्टान्तरूप उपपत्तिसे संस्कृत तो ये दोनों हो ही गये हैं। यदि ये मेरे वचनको पुनः २ स्मरण करेंगे, तो प्रतिबन्ध क्षयसे अनन्तर स्वयं ही इनको आत्मविषयक विवेक हो जावेगा। और यदि ये आत्मज्ञानके योग्य होंगे तो स्वयं पुनः जिज्ञासु होकर मेरे पास आवेंगे। और यदि मैं इसवक्त इनको ब्रह्मचर्यपूर्वक सेवाका उपदेश करुंगा तो इनको कष्ट होगा। जिज्ञासाके विना ब्रह्मचर्यादिक साधन भी ये न कर सकेंगे इत्यादि विचार करके कृतार्थमानी इन्द्र व विरोचनको जो प्रजापतिने उपेक्षा करी है सो उचित ही है।

परन्तु यह दोनों सम्राट् कदाचित् भोगोंमें आसक्त हो जावेंगे तो उक्त उपदेशका विस्मरण हो जावेगा। इस अभिप्रायसे कृपा पूर्वक पुनः प्रजापति तिनको जाते देखकर बोले—"यथार्थ आत्माका साक्षात्कार न करके छायापुरुष विषयक विद्याको लेकर ये इन्द्र और विरोचन जा रहे हैं। इस विद्याको इनमेंसे कोई भी (देव हो वा असुर हो) यदि ग्रहण करेंगे तो पराभवको प्राप्त होवेंगे" इति।

परन्तु इस उपदेशने भी इन्द्र व विरोचनके हृदयको स्पर्श नहीं किया। तिन दोनोंमेंसे विरोचनने यह निश्चय किया कि—"देहानुपाती होनेसे छायापुरुष आत्मा नहीं हो सकता है किन्तु छायाका मूल जो देह है यही आत्मा है।" अहा!! अब हमको प्रजापतिका आशय ठीक मालूम हुवा। इस प्रकार देहात्मनिश्चयसे सन्तुष्ट होकर असुरोंके पास आकर देहात्मवादका उपदेश करता भया।

और देवेन्द्र जो है सो किञ्चिद् विरल कल्मष होनेसे मार्गमें ही छायापुरुषमें देहानुविधायित्व व विकारित्वादि दोषोंको देखता हुवा, छायात्मामें भोग्य अर्थात् पुरुषार्थको न देखकर, समित्पाणि होकर प्रजापतिके पास पुनः वापिस आया। प्रजापतिके पुनरागमनका कारणको पूछनेपर मार्गमें जो विकारित्वादि दोष छायात्मामें देखे थे तिनको कहता भया।

प्रजापति बोले—हे इन्द्र! तेरा कल्मष अभी क्षीण नहीं हुवा है पुनः बत्तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य कर, 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इसी आत्माका ही उपदेश तुमको मैं पुनः करुंगा।

इन्द्र इस वचनको श्रवण करके बत्तीस वर्ष पर्यन्त पुनः प्रजापतिके पास ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान किया। इसके अनन्तर—

प्रजापति पुनः तिस ही अपहतपाप्मत्वादि लक्षणवाले जाग्रत् द्रष्टाका परामर्श करके उपदेश करने लगे—'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति।

अर्थ—जो अपहतपाप्मत्वादि स्वरूप आत्मा प्रथम हमने तुमको कहा है और जो 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादि लक्षण करके जाग्रत्का साक्षीरूपसे वर्णन किया है सो यही आत्मा स्वप्नमें वनितादि-

कोंके साथ नाना प्रकारके भोगोंको भोगता (प्रकाशता) है, यही आत्मा अमृत अभय ब्रह्मरूप है इति ।

इस उपदेशको श्रवण करके इन्द्र शान्त हृदय होकर अपने गृहके प्रति आगमन करता भया । परन्तु मार्गमें ही स्वप्नमें विचरनेवाले स्थूलभावको प्राप्त और साभास वासनामय स्वप्नके शरीरको आत्मा समझकर; तिसमें भी दुःखित्वादिक नाना प्रकारके दोषोंको देखकर; पुनः प्रजापतिके पास इन्द्र आया। प्रजापतिके पूछनेपर कहने लगा—हे भगवन्! यद्यपि यह स्वप्नमें महिमाको अनुभव करनेवाला आत्मा छायापुरुषकी तरह जाग्रत् देहके धर्मोंसे धर्मवान् नहीं होता है। तथापि स्वप्नमें शोकभयादिक विविध बाधाका अनुभव करते हुये की तरह प्रतीत होता है । अतः इस आत्मामें भी मैं कुछ भोग्य (पुरुषार्थ) नहीं देखता हूं ।

इस वचनको श्रवण करके प्रजापति कहने लगे—**'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि'** । अर्थात् हे मघवन्! 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादिसे जिस आत्माको पापादिरहित रूपसे मैंने कहा है। और 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादिसे जिसको नेत्रादि जन्य ज्ञानरूप जाग्रत्के द्रष्टारूपसे कहा है । और 'य एष स्वप्ने' इत्यादिकसे जिसको स्वप्नके द्रष्टारूपसे कहा है । इसी आत्माको तुम्हारे प्रति मैं पुनः उपदेश करुंगा, पुनः और बत्तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य करो ।

इस प्रजापतिके वचनको श्रवण करके पुनः ब्रह्मचर्यको इन्द्र करता भया । बत्तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यके अनन्तर प्रजापति पुनः उपदेश करने लगे—**'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मा'** । अर्थ—जो आत्मा अपहतपाप्मादिरूपसे दिखाया है और जो जाग्रत् व स्वप्नका साक्षी है । और जिसमें स्थूल सूक्ष्म प्रपञ्च विलय होनेसे समस्त एकीभूत होता है । सो यही आत्मा विषय इन्द्रियके संयोगविरह दशामें जाग्रत् व स्वप्नरूप विक्षेपके न रहनेसे विक्षेपरूप स्वप्नको नहीं देखता है । किन्तु प्रसन्न हुवा सुषुप्तिका साक्षी है यही आत्मा है इति।

यहां 'एतं ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इस प्रकार तिसी आत्माका पुनः २ परामर्श करके तत्तत् अवस्थाको प्राप्त जीवके स्वरूपका प्रजापतिने उपदेश किया है । और इसी आत्माके अपहतपाप्मत्वादि रूपको दिखाया है। पुनः इसी आत्माको **'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म'** इस मन्त्रसे पुनः पुनः प्रजापतिने अमृत अभय ब्रह्मरूप दिखाया है ।

परन्तु इस उपदेशको प्राप्त हो करके भी इन्द्र सन्तुष्ट नहीं हुवा; और अपने गृहके प्रति जाते हुये मार्गमें ही इस आत्मामें भी दोषोंको विचार करके पुनः वापिस आकर प्रजापतिसे कहने लगा—**'नाहं खल्वयमेवं'** इत्यादि । अर्थात् हे भगवन्! जैसे जाग्रत्में व स्वप्नमें यह आत्मा अपनेको व अन्य पदार्थोंको जानता है । तैसे सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त हुवा यह आत्मा 'अहं' इस प्रकार न अपनेको

जानता है; न किसी अन्य वस्तुको जानता है; किन्तु विनष्टकी तरह हो जाता है। इसमें भी मैं कुछ भोग्यको नहीं देखता हूं।

इस प्रकार सुषुप्ति अवस्थामें दोषोंको देखकर जब इन्द्रने प्रजापतिसे कहा तब प्रजापति कहने लगे हे मघवन्! अभीतक भी तेरा अच्छी तरह कल्मष क्षीण नहीं हुवा है। अतः तू पाञ्च वर्ष और ब्रह्मचर्य कर—**'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि'** इसी आत्माको मैं फिर तेरेको उपदेश करुंगा-ऐसा उपक्रम करके कहा—**'नो एवान्यत्रैतस्मात्'** इत्यादि। जो आत्मा पाप्मादि रहित है, जो नेत्रादिजन्य जाग्रत्का द्रष्टा है, जो स्वप्नका द्रष्टा है, और जो सुषुप्तिका द्रष्टा है, इसी आत्माका तुमको पुनः मैं उपदेश करुंगा। इस जाग्रदादिक द्रष्टासे अन्यका उपदेश नहीं करुंगा।

इस ब्रह्माजीकी आज्ञाके अनुसार इन्द्रने पाञ्च वर्ष और ब्रह्मचर्य किया। सर्व मिल करके एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्य करते बीत गये। यह वार्ता शिष्टोंमें प्रसिद्ध है कि—"एक सौ एक वर्ष पर्यन्त मघवान्ने प्रजापतिके समीपमें ब्रह्मचर्य किया है" इति।

ब्रह्मचर्य समाप्तिके अनन्तर प्रजापति इन्द्रके प्रति पुनः उपदेश करने लगे—**'मघवन्! मर्त्यं वा इदं शरीरम्'** इत्यादि। अर्थात् हे मघवन्! जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति व स्थूल सूक्ष्म कारण यह समष्टि व्यष्टि सर्व शरीर विनाशी व तुच्छ हैं इत्यादि। इस प्रकार शरीरकी निन्दा करके पश्चात् प्रजापतिने **'अथ य एष संप्रसादो'** इत्यादिसे जो शुद्ध स्वरूप है तिस स्वयं ज्योति तुरीयरूप उत्तम पुरुष-पर ब्रह्मका उपदेश किया है। और कहा कि—जो जीव इस शरीरसे पृथक् होकर ब्रह्मस्वरूप प्रत्यग् आत्माका साक्षात्कार करके परमात्मास्वरूप ज्योतिको प्राप्त होता है सो उत्तम पुरुष है।

इस प्रजापतिके उपदेशका यह अभिप्राय है—जो कुछ आगमापायी सुख-दुःखादिक हैं सो सर्व ही शरीर इन्द्रिय व अन्तःकरण सम्बन्धी हैं; आत्माके सम्बन्धी नहीं हैं। परन्तु आत्मा अनादि अविद्यावासनावशसे देह इन्द्रियादिकोंमें तादात्म्याभिमान करके देहादिके तापसे तप्त होता है। और जिस समयमें यह जीवात्मा देह इन्द्रियादिकोंसे विविक्त अपहतपाप्मत्वादि लक्षण उदासीन असङ्ग परब्रह्म स्वरूप आत्माका अनुभव करता है। तिस समयमें मिथ्या देहादि सहित हुवा भी वस्तुत देहादि रहित होनेसे देहादिगत हर्षशोकादि प्रसङ्गरहित हुवा देहादिके तापसे तप्त नहीं होता है। किन्तु केवल चैतन्य आनन्दघन स्वरूपमें व्यवस्थित हुवा समस्त लोकोंको व कामोंको प्राप्त होता है। अर्थात् सम्पूर्ण सुखको प्राप्त होता है। क्योंकि यह परमानन्द स्वरूप आत्मा ही सर्व सुखरूप है। और दुःखको अविद्यानिर्मित होनेसे अविद्यारहित विद्वान्में सम्भव बने नहीं।

तथाच इस प्रकार उपाख्यानके व्यवस्थित होनेसे यह प्रतीत होता है कि—दहरवाक्यसे उत्तर ग्रन्थगत 'य एषोऽक्षिणि' इस प्रथम पर्य्यायमें, और 'य एष स्वप्ने' इस द्वितीय पर्य्यायमें, और 'तद्यत्रैतत्सुप्तः' इस तृतीय पर्य्यायमें, और 'अथ य एष सम्प्रसादो' इस चतुर्थ पर्य्यायमें अपहतपाप्मत्वादि लक्षण जीवात्माका ही श्रुतिने उपदेश किया है। क्योंकि पर ब्रह्मका अक्षिस्थान नहीं बन सकता है। और स्वप्नादि अवस्थाका सम्बन्ध भी पर ब्रह्ममें नहीं बन सकता है। और शरीरसे समुत्थान भी पर ब्रह्मका अयुक्त है। तथा च जिसकी अक्षिमें स्थिति, व स्वप्नादि अवस्था बन सकती है सोई अपहतपाप्मा श्रुति करके प्रतिपाद्य होगा। और जीवमें नेत्रादि सर्वका सम्भव है। अतः जीव ही अपहतपाप्मा श्रुति करके उक्त है पर ब्रह्म नहीं ऐसा निश्चय होता है।

शंका। जीवमें अपहतपाप्मत्वादि लक्षण नहीं बन सकता है; यह हम पूर्व कह आये हैं?

समाधान! प्रजापतिके यावत् प्रकरणको जीव परक होनेसे तदन्तरगत—'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि श्रुतिरूप प्रमाणके बलसे अपहतपाप्मत्वादि भी बन जावेगा, श्रुति क्या नहीं कर सकती है; श्रुतिको इसमें क्या भार है?

शंका। जीवको अपहतपाप्मादि लक्षण नहीं मान सकते हैं, क्योंकि श्रुत्यन्तरका विरोध होगा।

समाधान। मानान्तर विरोध नहीं हो सकता है, क्योंकि पाप्मादिक जीवमें स्वाभाविक नहीं हैं। किन्तु देह इन्द्रियादिके सम्बन्धकी भ्रान्ति प्रयुक्त हैं। जैसे वह्निप्रयुक्त धुमका वह्निके अभावसे अभाव होता है। तैसे शरीरादिक भ्रान्तिके अभावसे जीवमें पाप्मादिका अभाव सिद्ध होता है।

इस पूर्वोक्त रीतिसे ब्रह्माने जीवको ही वर्णन किया है। अतः प्रजापतिके वाक्यसे परमेश्वरके जो अपहतपाप्मत्व, अमृतत्व, अभयत्वादिक धर्म हैं तिनोंका जीवमें सम्भव हो सकता है। अतः 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इस वाक्यमें दहर शब्द करके जीवका ही कथन किया है ब्रह्मका नहीं?

समाधान। इस प्रकार यदि कोई वादी शंका करे तो तिसके प्रति सिद्धान्तीको कहना चाहिये कि—**'आविर्भूतस्वरूपस्तु'**। यह सूत्रमें जो 'तु' शब्द है सो 'उत्तराच्चेत्' इस पूर्वपक्षका निषेध करता है। अर्थात् प्रजापतिके उपदेशरूप उत्तर वाक्यसे भी जीवविषयक शंका नहीं बन सकती है। क्योंकि प्रजापतिके वाक्यमें भी आविर्भूतस्वरूप जीवकी ही विवक्षा है। अर्थात् जाग्रत् आदिक अवस्थात्रयसे शोधन करके 'आविर्भूत' कहिये अभिव्यक्त हुवा है 'स्वरूप' कहिये निज प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्म स्वरूप जिस जीवका तिस जीवका नाम आविर्भूतस्वरूप है। ऐसा शुद्ध ब्रह्मरूप जीव ही तहां विवक्षित है। यहां पर यह अभिसन्धि है—पूर्वापर आलोचन करनेसे सम्पूर्ण उपनिषदोंका "शुद्ध बुद्ध मुक्त एक अद्वितीय प्रपञ्चशून्य परब्रह्म है,

और ब्रह्मसे अतिरिक्त जो कुछ भासता है सो सर्व रज्जुमें सर्पकी तरह ब्रह्मका विवर्त है" इस अर्थमें ही तात्पर्य निश्चित होता है। तथाच जीव भी अविद्याकल्पित देह इन्द्रियादि उपहित ब्रह्म ही का नाम है। अविद्यारहित शुद्ध बुद्ध ब्रह्मका नाम जीव नहीं है। एवं च अविद्याउपहित ब्रह्ममें तो अपहतपाप्मत्वादिका सम्भव बनता नहीं, किन्तु आविर्भूतस्वरूप निरूपाधिक ब्रह्ममें इनका सम्भव होता है; सो निरुपाधिक शुद्ध स्वरूप ब्रह्म ही है जीव नहीं। तथाच अपहतपाप्मा विजर विमृत्युरूप करके ब्रह्म ही प्रजापतिके प्रकरणमें श्रुतिसे प्रतिपादित है, ब्रह्म ही दहराकाश है, जीव नहीं इति।

शंका। इस पूर्वोक्त रीतिसे महावाक्यजन्य ज्ञानका विषय शोधित आविर्भूत-स्वरूप निरुपाधिक चिदात्मा यदि ब्रह्म ही है जीव नहीं है तो "आविर्भूतस्वरूपो जीवो विवक्ष्यते" यह भाष्य वचन विरुद्ध होगा क्योंकि ज्ञानदशा (आविर्भूत स्वरूप)में जीवत्व है नहीं ?

समाधान। भूतपूर्व गति करके यह जीववचन है। अर्थात् तत्त्वज्ञानसे प्रथम ब्रह्मविषे अविद्या तत्कार्य अन्तःकरण प्रतिबिम्बितत्वरूप जीवत्व था। इस हेतुसे ज्ञानके अनन्तर ब्रह्म स्वरूप भी आत्मा जीव कहा जाता है इति।

अब विश्व, तैजस, प्राज्ञ व तुरीयके प्रतिपादक पर्याय चतुष्टयरूप प्रजापतिके वाक्यके तात्पर्यको दिखाते हैं—**'एतदुक्तं भवति'** इत्यादि भा०। अर्थात् जब 'य एषोऽक्षिणि' इस वाक्यसे अक्षिमें स्थित विश्वरूप द्रष्टाको प्रजापतिने इन्द्र व विरोचनके प्रति निर्देश किया। परन्तु इन्द्र विरोचन छायापुरुषको आत्मा समझे। तब "छायापुरुष आत्मा नहीं है; तथा जन्म नाशवाला होनेसे छायाकी तरह बिम्बरूप देह भी आत्मा नहीं है" इस अर्थको बोधन करनेके लिये इन्द्र व विरोचनके प्रति ब्रह्मा कहते भये—"हे इन्द्र विरोचन! **'उदशराव आत्मानमवेक्ष्य'** जलपूरीत शराव रूप मृन्मय पात्रमें आत्माको देखो। और जलमें आत्माको देख कर तुम्हारे समझमें जो न आवे सो हमारे प्रति कहो" इत्यादि उदशराव ब्राह्मणसे इन्द्रको शरीरात्मभावसे व्युत्थित * करके ब्रह्माजीने कहा कि— **'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि।'** अर्थ—हे इन्द्र! जिस अपहतपाप्मत्वादिक गुणविशिष्ट आत्माका जाग्रत् अवस्थामें अक्षिविषे द्रष्टारूप करके अर्थात् विश्वरूपसे उपदेश किया है उसी आत्माका स्वप्न तथा सुषुप्तिमें तैजस तथा प्राज्ञरूप करके उपदेश करूंगा इति। इस प्रकार ब्रह्माजीने पुनः तिसी व्याख्येयरूप आत्माको वारम्वार आक-

* टि०-जैसे उदशरावमें, इस शरीरके उत्पत्ति विनाश धर्मवाले प्रतिबिम्ब, अविनाशित्व अविकारित्वादिक आत्मलक्षणहीन होनेसे आत्मा नहीं हैं। इसी प्रकार उत्पत्तिविनाशवाले देह इन्द्रियादिक भी अविनाशित्वादि आत्मलक्षणहीन होनेसे आत्मा नहीं हैं। इस निश्चयका नाम शरीरात्मभावका बाध व शरीरात्मभावसे व्युत्थान है।

र्णण करके स्वप्न व सुषुप्तिमें तैजस व प्राज्ञरूपसे दिखाया है। और पुनः क्रमसे स्वप्न व सुषुप्तिका उपन्यास करके 'परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्यादि मन्त्रसे तुरीय अवस्थामें भी सर्व उपाधि शून्य परमात्मारूप परज्योतिका ही वर्णन किया है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे जीवका जो पारमार्थिक स्वरूप परब्रह्म है तिस पर ब्रह्मरूप करके ही इस जीवको प्रजापतिने कथन किया है। उपाधिकृत जीवत्वविशिष्टरूप करके जीवका उपदेश नहीं किया है।

और 'परं ज्योतिरूपसम्पद्य' यह जो उपसम्पत्ति (प्राप्ति)के योग्य परज्योतिका श्रवण होता है। सो ज्योति ही परब्रह्म है। सोई सर्व पाप्मादिरहित है। 'तत्त्वमसि' इत्यादि शास्त्रसे सो ही जीवका वास्तव स्वरूप है। उपाधिकल्पित कर्ताभोक्ता जीवका स्वरूप नहीं है।

और अविद्याके विद्यमान हुये ही जीवमें जीवत्व रहता है तथा तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य ज्ञान करके अविद्याकी निवृत्ति हुये जीवत्वकी निवृत्ति हो जाती है इस अन्वयव्यतिरेक करके जीवत्वमें आविद्यकत्वको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं:—'यावदेव हि' इत्यादिना। जैसे जब पर्यन्त स्थाणुरूप अधिष्ठानका ज्ञान नहीं होता है तब पर्यन्त स्थाणुमें पुरुषबुद्धि रहती है; और जब स्थाणुरूप अधिष्ठानका ज्ञान हो जाता है तब पुरुषबुद्धि निवृत्त हो जाती है। तैसे ही कूटस्थ नित्य दृग् स्वरूप आत्माको 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार ब्रह्मसे अभिन्नरूप करके जब पर्यन्त द्वैतरूप अविद्याको निवृत्त करता हुवा यह जीव नहीं जानता है तब पर्यन्त जीवमें जीवत्व रहता है। और जिस कालमें देह इन्द्रिय मन बुद्धि आदिक संघातसे पृथग् करके श्रुति व्युत्थापन करती है। अर्थात् "देहादिक संघात तू नहीं है, संसारी तू नहीं है, किन्तु तत्त्वमसि इति श्रुति प्रमाणसे सत् चैतन्य मात्र आत्मा स्वरूप ही तू है"। इस प्रकारसे श्रुति बोधन करती है। तिसकालमें कूटस्थ नित्य दृग् स्वरूप आत्माको जानकर इस शरीरादिकोंमें आत्मत्वाभिमानको व ममताको त्याग करता हुवा सोई जीव कूटस्थ नित्य दृग् स्वयंज्योतिः स्वरूप आत्मा होता है। और सो यह जीव परमात्मा स्वरूप ही है। क्योंकि 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि शास्त्र प्रमाणसे ब्रह्मको जाननेवाला पुरुष ब्रह्मरूप ही होता है। और जीवमें संसारित्वको कल्पित होनेसे इस जीवका, 'शरीरात्समुत्थाय' इस श्रुति करके प्रतिपाद्य जो परमात्मा स्वरूप स्वयं ज्योति आत्मा है, जिसको प्राप्त होकर यह जीव स्वस्वरूप करके अभिनिष्पन्न होता है, सो ही पारमार्थिक स्वरूप है इति।

और अब 'समुत्थाय' तथा 'स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते' इस श्रुतिका व्याख्यान करनेके लिये प्रथम पूर्वपक्षीके आक्षेपको दिखाते हैं—

शंका। 'कथं पुनः स्वं च रूपं स्वेनैव च निष्पद्यत इति संभवति कूटस्थनित्यस्य' इति भा०। अर्थ—नित्य कूटस्थरूप साक्षीका जो स्वरूप है तिसकी

अपने करके ही किस प्रकार 'अभिनिष्पत्ति' होगी। अर्थात् किस प्रकार आविर्भावरूप अभिव्यक्ति होगी किन्तु नहीं होगी इति। क्योंकि जैसे मलादिरूप द्रव्यान्तरके सम्बन्धसे अनभिव्यक्त है स्वरूप जिनोंका तथा अनभिव्यक्त है भास्वरत्व (स्वच्छत्व) रूप असाधारण धर्म जिनोंका ऐसे जो सुवर्णादिक पदार्थ हैं तिन सुवर्णादिक पदार्थोंकी, क्षार प्रक्षेपादिकों करके शोधनसे अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् मलके सङ्गवाले पदार्थोंकी, क्रिया करके मलका नाश होनेसे अभिव्यक्ति होती है। तथा जैसे सूर्यके प्रकाश करके दिनमें अभिभूत हो गया है प्रकाश जिनोंका ऐसे जो नक्षत्रादिक हैं तिनोंकी, अभिभावक प्रकाशके अभाव हुये रात्रिमें स्वरूप करके अभिव्यक्ति होती है। तैसे कूटस्थ नित्य दृक् चैतन्य स्वयं ज्योतिः स्वरूप आत्माका कोई अभिभावक है नहीं, अत आत्माके अभिभवका सम्भव बने नहीं। और आत्माको आकाशकी तरह असंग होनेसे मलका सम्बन्ध भी बने नहीं।

यदि अभिभावक मानोगे तो 'दृष्टविरोध भी होगा'। अब इस अर्थको दिखाते हैं— **'दृष्टिश्रुतिमतिविज्ञातयो हि जीवस्य स्वरूपम्'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थ— 'विज्ञानघन एव' इस श्रुति करके चैतन्यमात्रका नाम आत्मा है। और चक्षु आदिक इन्द्रियजन्य पदार्थाकार वृत्तिमें अभिव्यक्त जो चैतन्य है सोई चैतन्य दृष्टि श्रुति मति आदिक पदका वाच्य स्वरूप हुवा व्यवहारका अङ्ग है। यह जो दृष्टि श्रुति मति आदिक जीवका स्वरूप है सो शरीरसे असमुत्थित अर्थात् देहभावापन्न अज्ञ जीवका भी सदा सिद्ध ही दीखता है। क्योंकि सम्पूर्ण जीव देखता हुवा, श्रवण करता हुवा, मनन करता हुवा, विशेष ज्ञानवान् हुवा व्यवहार करता है। अतः अज्ञानीका भी चैतन्यस्वरूप वृत्तियोंमें अभिव्यक्त अवश्य होता है। यदि जीवके स्वरूपका अभिभव मानोगे तो व्यवहारका कारण अभिव्यक्त चैतन्यका अभाव होनेसे प्रत्यक्ष दृष्ट व्यवहारका अभाव होवेगा इति।

किञ्च यदि शरीरादिकोंसे समुत्थित अर्थात् अनवच्छिन्न परज्योतिः स्वरूप आत्माको जाननेवाले ज्ञानीका ही स्वरूप वृत्तियोंमें अभिव्यक्त होता है अज्ञानीका नहीं, तो ज्ञानसे प्रथम दृष्ट जो व्यवहार है सो विरुद्ध होवेगा। अतः 'जीवका स्वरूप सदा ही अभिव्यक्त है' ऐसा मानना पड़ेगा। यदि ऐसा मानोगे तो शरीरसे 'समुत्थान'का क्या स्वरूप है? तथा स्वरूप करके 'अभिनिष्पत्ति'का क्या स्वरूप है?

समाधान। वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्यरूप जो आत्मा है सो यद्यपि सदा असङ्ग है तथापि तिस असङ्ग आत्मामें अविद्या करके किया हुवा जो मलरूप देहादिकोंका अविवेकरूप सङ्ग है तिस सङ्गको विद्यमान होनेसे विवेककी अपेक्षा करके समुत्थानादिकोंका श्रवण होता है। इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं—**'अत्रोच्यते'** इत्यादि भाष्यम्। अर्थात् विवेकविज्ञानकी उत्पत्तिसे प्रथम देह इन्द्रिय मन बुद्धि विषय वेदना हर्ष शोकादिरूप उपाधि करके जीवका जो दृष्टि आदिक ज्योतिः स्वरूप है सो अविविक्तकी तरह प्रतीत होता है। जैसे शुद्ध स्फटिकका स्वच्छत्व शुक्लत्व स्वरूप जो है सो विवेकज्ञानसे प्रथम रक्तनीलादिक उपाधि करके अवि-

विक्तकी तरह प्रतीत होता है। और प्रमाणजन्य विवेकज्ञानसे अनन्तर "रक्तनीलादिक उपाधि सहित जो स्फटिक था सो ही यह अपने शुक्ल स्वरूप करके अभिव्यक्त हुवा है तथा प्रथम भी यह स्फटिक स्वच्छ शुक्ल ही था" इस प्रकार कहा जाता है। तैसे ही देहादिक उपाधि करके अविविक्त जीवका जो **'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तज्योतिः पुरुषः'** इत्यादिक श्रुति करके सिद्ध, प्राणादिकोंसे भिन्न, 'त्वं' पदके लक्ष्यार्थका ज्ञान है सोई 'अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इस श्रुति करके उक्त 'समुत्थान' है। और त्वं पदार्थके ज्ञानका 'ब्रह्मैवाहमस्मि' 'मैं ब्रह्मरूप हूं' इस प्रकार महावाक्यार्थविषयक साक्षात्काररूप जो फल (केवल आत्मस्वरूपकी अवगति) है सोई 'स्वरूपेण अभिनिष्पत्ति' है इति।

और अभिनिष्पत्ति नामक केवल आत्मस्वरूपविषयक—'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक वृत्तिरूप जो साक्षात्कार है। सो भी निखिल प्रपञ्चजालको प्रविलय करता हुवा स्वयं भी कतकरजकी तरह अथवा अतितप्त उपलमें प्रक्षिप्त जलबिन्दुकी तरह विवेक ध्यानाभ्यास प्रकर्ष करके प्रतप्त चित्स्वरूपमें ही प्रलीन हो जाता है। तदनन्तर निखिल प्रपञ्चजालसे रहित त्रैकालाबाध्य स्वयं ज्योतिः स्वस्वरूप मात्रकी अभिव्यक्ति होती है। यही परंज्योतिकी उपसम्पत्ति है। यहां अभिनिष्पत्तिसे उपसम्पत्तिको उत्तरकालीन होने पर भी 'उपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते' यह जो क्त्वाका प्रयोग है सो 'मुखं व्यादाय स्वपिति' की तरह गौण है।

शंका। सशरीरत्वको सत्य होनेसे शरीरसे उत्क्रान्ति (मरण) स्वरूप ही समुत्थान है, विवेकविज्ञान नहीं ?

समाधान। **'तथा विवेकाविवेकमात्रेणैवात्मनोऽशरीरत्वं सशरीरत्वं च'** इति भा०। अर्थ—जीवमें विवेक करके अशरीरत्व है, तथा अविवेक करके सशरीरत्व है इति। तहां श्रुति—**'अशरीरं शरीरेषु'**। अर्थ—समष्टि व्यष्टि सर्व अनवस्थित शरीरोंमें अशरीररूप जीव व्यवस्थित है इति। इस मन्त्रवर्णसे यह सिद्ध हुवा कि—जीवमें जो सशरीरत्व है सो अविवेक मात्र करके कल्पित है। अतः विवेकविज्ञान ही 'समुत्थान' है; उत्क्रान्ति नहीं इति।

शंका। स्वकर्म करके अर्जित शरीरमें भोगको अपरिहार्य होनेसे जीवत् दशामें ही स्वरूपका आविर्भाव किस प्रकार होगा ?

समाधान। **'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते'** इति। इस स्मृतिसे अशरीर शुद्ध ब्रह्मकी तरह सशरीर जीव भी न कर्मको करता है, न कर्मफलके साथ लेपायमान होता है। अर्थात् अशरीर ब्रह्मकी तरह शरीरमें स्थित जीवमें भी वस्तुतः कर्तृत्वादिरूप विशेषका अभाव तुल्य है। वस्तुतः जीवमें इस प्रकारका कर्तृत्व भोक्तृत्वरूप बन्धके अभावका स्मरण होनेसे जीवत् अवस्थामें ही स्वरूपका आविर्भावरूप जो मुक्ति कही है सो युक्त ही है। अतः विवेकविज्ञानका अभाव

होनेसे अनाविर्भूत स्वरूप हुवा जीव विवेकविज्ञानसे आविर्भूतस्वरूप कहा जाता है। अर्थात् स्वरूपका आविर्भाव तथा अनाविर्भाव सत्य नहीं है, किन्तु विवेकाविवेकृत कल्पित है। शुद्ध असङ्ग अद्वितीय आत्मामें अन्य प्रकारका आविर्भाव तिरोभाव नहीं बन सकता है। क्योंकि चिदात्माको ही जीवका स्वरूप होनेसे अपना स्वरूप नित्य सिद्ध है इति।

इस पूर्वोक्त रीतिसे ज्ञान तथा अज्ञान करके आविर्भाव तिरोभावके सिद्ध हुये जीव तथा परमेश्वरका जो अंश अंशीभाव करके भेदको कोई मानते हैं। सो भेद भी निवृत्त हो गया। इस अर्थको दिखाते हैं—**'एवम्'** इत्यादि भाष्यम्। जीव तथा परमेश्वरका जो भेद है सो मिथ्या अज्ञानकृत है वस्तुकृत नहीं। क्योंकि जैसे अंशादिकों करके शून्यत्वरूप असङ्गत्व आकाशमें है, तैसे ही आत्मामें भी असङ्गत्व है। अतः आत्मामें अंशादिकवस्तुकृत भेद नहीं बन सकता है। अर्थात्—**आत्मा, द्रव्यत्वव्याप्यजातिशून्यः, विभुत्वात्, व्योमवत्।** जैसे व्योमरूप दृष्टान्तमें विभुत्वरूप हेतु है और द्रव्यत्वव्याप्य पृथिवीत्वादिक जातिका अभावरूप साध्य है। तैसे आत्मारूप पक्षमें भी विभुत्वरूप हेतु है, अतः द्रव्यत्व व्याप्य जातिका अभावरूप साध्य भी मानना चाहिये। इस अनुमान करके आत्मामें एकत्वकी सिद्धि होनेसे जीवईश्वरका भेद मिथ्या है इति।

शंका। और किस हेतुसे जीवईशादि भेदमें सत्यत्व नहीं है?

समाधान। प्रजापतिके वाक्यसे भी भेदमें मिथ्यात्व होनेसे सत्यत्व नहीं बन सकता है। इस अर्थको दिखाते हैं—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्यादि। इस श्रुतिवाक्यसे प्रजापतिने अक्षिस्थ पुरुषका उपदेश करके आगे—'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' 'यह अक्षिमें स्थित जो पुरुष है सो अमृत अभय ब्रह्मरूप है' ऐसा उपदेश किया है। तथा च जो अक्षिमें स्थित पुरुष द्रष्टारूप करके प्रतीत होता है सो यदि अमृत अभयरूप ब्रह्मसे भिन्न होवे तो "जो अक्षिस्थ द्रष्टा पुरुष है सो अमृत अभय ब्रह्मरूप है" इस प्रकारसे अभेदका बोधक सामानाधिकरण्यकी अनुपपत्ति होगी। अतः इस अनुपपत्तिकी निवृत्तिके लिये "अक्षिस्थ पुरुष तथा अमृत अभयरूप ब्रह्म एक है" ऐसा ही मानना पड़ेगा इति।

शंका। "अक्षि करके उपलक्षित जो प्रतिबिम्बरूप छाया है, तिसमें ब्रह्मदृष्टि करनी" इस अर्थको बोधन करने वाला 'एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म' यह वाक्य है, अभेद बोधन परक नहीं है।

समाधान। यह पूर्वपक्षीका कहना असङ्गत है। क्योंकि "जिस आत्माके ज्ञानसे कृतकृत्यता तथा सर्व कामोंकी प्राप्ति होती है, तिस आत्माको हम जानें" इस विचार करके प्रवृत्त जो इन्द्र व विरोचन हैं तिनोंके प्रति यदि ब्रह्मा अपहतपाप्मत्वादिक गुण विशिष्ट आत्माके उपदेशकी प्रतिज्ञा करके अनात्मारूप छायाके

निर्देशको करेगा तो ब्रह्मामें मिथ्यावादित्वका प्रसंग होगा। अतः "ब्रह्माने पूर्वोक्त अपहतपाप्मत्वादि गुणविशिष्ट आत्माका ही अक्षिमें स्थित द्रष्टारूप करके उपदेश किया है" ऐसा निश्चय होता है। और द्वितीय पर्यायमें भी **'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति'** इस मन्त्रसे प्रथम पर्याय करके निर्दिष्ट जो अक्षिमें स्थित द्रष्टा पुरुष है; तिस पुरुषरूप आत्माका ही कथन किया है द्रष्टारूप पुरुषसे भिन्नका नहीं। क्योंकि 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इस वचन करके ब्रह्माने इन्द्रके प्रति प्रथम उपक्रममें कहा है कि–हे इन्द्र ! पूर्वोक्त अक्षिमें स्थित द्रष्टारूप पुरुषका ही पुनः मैं तुमको उपदेश करुंगा इति।

किंच जाग्रत् आदिक अवस्थाका भेद हुये भी 'आत्मा सर्व अवस्थावोंमें अनुगत एक ही है' इस अर्थमें युक्तिको दिखाते हैं–**'किं च'** इत्यादि भा०। "आज मैंने स्वप्न अवस्थामें हस्तिको देखा था, अभी जाग्रत् अवस्थामें तिस हस्तिको नहीं देखता हूं"–इस प्रकार स्वप्नसे जागा हुवा पुरुष स्वप्नमें दृष्ट अर्थका ही निषेध करता है द्रष्टाका नहीं। इस कहनेसे यह सिद्ध हुवा कि–स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्था भिन्न भिन्न है, और स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्थामें द्रष्टारूप आत्मा एक ही है। और जो स्वप्नका द्रष्टा है तिसकी ही जाग्रत् अवस्थामें सर्वको प्रत्यभिज्ञा भी होती है–जो मैं स्वप्नको देखता भया सोई मैं जाग्रत्को देखता हूं इति।

शंका। तृतीय पर्यायमें ब्रह्माके प्रति इन्द्रने कहा था कि–'नाह खल्वयमेवं सम्प्रति' इत्यादि। अर्थात् सुषुप्ति अवस्थामें यह जीव अपने आत्माको नहीं जानता है कि–'मैं देवदत्त हूं'; तथा आकाशादिक भूतोंको भी नहीं जानता है कि–'ये आकाशादिक हैं'; तथा 'मैं इसमें कुछ फलरूप भोग्यको नहीं देखता हूं' इत्यादि। तथा च इस इन्द्रके वचनसे सुषुप्ति अवस्थामें विज्ञाताका अभाव सिद्ध होता है।

समाधान। यह भी वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि तृतीय पर्यायमें भी 'नाह खल्वयमेवं सम्प्रति' यह इन्द्रका वचन सुषुप्ति अवस्थामें विज्ञातारूप आत्माके अभावको नहीं बोधन करता है; किन्तु 'यह घट है' 'यह पट है' इस प्रकारका जो विशेषविज्ञान है तिस विशेषविज्ञानके अभावको ही बोधन करता है।

और वादीने जो पूर्व कहा था कि–'सुषुप्ति अवस्थामें आत्मा विनाशको प्राप्त होता है' सो कहना भी असङ्गत है, क्योंकि 'विनाशमेवापीतो भवति' यह वचन भी विज्ञाताके विनाशको नहीं कहता है। किन्तु विशेषविज्ञानके विनाशको ही कहता है। अथवा विशेषविज्ञानके अभाव होनेसे 'विज्ञाता भी नष्टकी तरह प्रतीत होता है' इस अर्थको कहता है। विज्ञाताके विनाशका अभिप्रायवाला उक्त वचन नहीं है। अन्यथा श्रुत्यन्तरका विरोध होगा। तहां बृहदारण्यक श्रुति–**'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्'**। अर्थ–विज्ञाता जो आत्मा है

तिसकी स्वरूपभूत जो विज्ञाति है तिसका नाश नहीं होता है, क्योंकि आत्मा अविनाशी है इति । **'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा'** इत्यादि ।

शंका । चतुर्थ पर्यायमें हम कह आये हैं कि—"जो जीव शरीरसे पृथग् होकर स्वस्वरूपको प्राप्त होता है सो उत्तम पुरुष है" अतः अपहतपाप्मत्वादिक जो परमात्माके धर्म हैं तिन धर्मों करके सहित हुवा जीव ही दहराकाश है परमात्मा नहीं ?

समाधान । यह भी वादीका कहना असङ्गत है क्योंकि चतुर्थ पर्यायमें **'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात्'** । इस प्रकार उपक्रम करके, आगे ब्रह्माजीने **'मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरम्'** 'हे इन्द्र ! यह शरीर मृत्यु करके ग्रस्त है' इत्यादिक वचनों करके विस्तारसे शरीरादिक उपाधि सम्बन्धको खण्डन करके; पूर्व श्रुतिमें 'सम्प्रसाद' शब्द करके कथित जो जीव है तिस जीवमें **'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'** इस उत्तर श्रुतिसे ब्रह्मस्वरूपापन्नत्वको दिखाते हुये 'अमृत अभयरूप पर ब्रह्मसे भिन्न जीव नहीं है' इस अर्थको ही इन्द्रके प्रति दिखाया है। अतः परमात्मा ही दहराकाश है जीव नहीं यह सिद्ध हुवा इति ।

अब एकदेशीकी व्याख्याको दूषित करनेके लिये प्रथम एकदेशीके मतको दिखाते हैं—**'केचित्तु'** इत्यादि भा० । कोई इस प्रकार कहते हैं कि—'य आत्मा अपहतपाप्मा' इस उपक्रमवाक्यमें परमेश्वरका प्रतिपादन है। और 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादि करके प्रथम पर्यायमें, अक्षिमें स्थित जीवका प्रतिपादन है अथवा छायापुरुषका प्रतिपादन है। और 'य एष स्वप्ने' इत्यादि करके द्वितीय पर्यायमें, और 'तद्यत्रैतत्सुप्तः' इत्यादि करके तृतीय पर्यायमें भी तत्तदवस्थापन्न जीवका ही प्रतिपादन है। इस प्रकार तीनों पर्यायों करके जीवके स्वरूपको दिखाकर चतुर्थ पर्यायमें परमात्माकी विवक्षा है । तथाच 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नोएवाऽन्यत्रैतस्मात्' इस वाक्यगत 'एतत्' सर्वनाम करके जीवका ग्रहण नहीं करना । क्योंकि यद्यपि जीव अव्यवहित है तथापि जीव व परमात्माके भेदको सत्य होनेसे जीवका आकर्षण करना अन्याय्य है। किन्तु 'एतम्' कहिये 'य आत्मा' इत्यादि उपक्रमगत वाक्य करके सूचित अपहतपाप्मत्वादि लक्षण परमात्माको 'ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इस प्रकारसे श्रुतिवाक्यमें योजना है इति ।

यह एकदेशीका मत असङ्गत है क्योंकि एकदेशीके मतमें यदि 'एतं' यह शब्द परमात्माको बोधन करेगा तो 'एतं' यह जो सन्निहित अर्थात् अव्यवहित अर्थको बोधन करनेवाली सर्वनामश्रुति है सो विप्रकृष्ट हो जावेगी ।अतः सन्निहित जीव ही 'एतं' इस चतुर्थ पर्यायगत सर्वनामका अर्थ है। और द्वितीय व तृतीय पर्यायगत 'एतं" श्रुतिसे भी जीव ही ग्राह्य है।

किंच जाग्रत् पर्यायमें अभिहित जो अक्षिस्थ पुरुषरूप जीव है तिसका स्वप्न व सुषुप्ति पर्यायमें 'एतं' इस सर्वनाम शब्द करके अभिधानका अभाव होनेसे द्वितीय व तृतीय पर्यायगत 'भूयः' यह श्रुति भी उपरुद्ध हो जावेगी। अर्थात् उक्त अर्थकी पुनरुक्तिमें 'भूयः' इस शब्दका प्रयोग होता है अन्य अर्थमें नहीं। और तुम्हारे मतमें भेदादि जगत्को सत्य होनेसे जाग्रत्विशिष्ट जीवसे स्वप्नादि-विशिष्ट जीव भिन्न है। अतः जाग्रत् विशिष्ट जीवका स्वप्नमें अभिधान बने नहीं।

और उपक्रमका विषय जो परमात्मा है तिसका चतुर्थ पर्यायमें ही कथन किया है, प्रथम, द्वितीय व तृयीय पर्यायमें नहीं, अतः पर्यायान्तरमें अभिहितका पर्यायान्तर-में अभिधानके न होनेसे चतुर्थ पर्यायगत 'भूयः' यह श्रुति भी बाधित हो जावेगी।

किंच पुनः २ 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' इस वचन करके पूर्वोक्त पुरुषरूप द्रष्टाके उपदेशकी प्रतिज्ञा करके द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ पर्यायमें यदि अन्य अन्यका उपदेश ब्रह्मा करेंगे तो ब्रह्मामें प्रतारकत्व अर्थात् मिथ्यावादित्व प्राप्त होगा। अतः 'एतं' इस वचन करके जीवका ही अनुकर्षण समीचीन है परमात्माका नहीं इति।

अब सिद्धान्ती स्वमतको दिखाते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादि भा०। अर्थ—'तस्मात्' कहिये पूर्वोक्त रीतिसे वादीके व्याख्यानको असम्भव होनेसे जैसे रज्जुका द्रष्टा कल्पित सर्पादिकोंका लय करके रज्जु आदिके स्वरूपको प्राप्त होता है। तैसे अविद्या करके प्रत्युप-स्थापित जो कर्तृत्व भोक्तृत्व राग द्वेष आदिक दोष हैं तिन करके कलुषित, तथा अनेक अनर्थके सम्बन्धवाले जीवका जो अपारमार्थिक जीवत्व स्वरूप है तिस जीवत्व स्वरूपका शोधनरूप विलय करके जीवस्वरूपसे विपरीत अर्थात् पारमार्थिक अपहतपाप्मत्वादिक लक्षणवाले परमात्माके स्वरूपको तत्त्वमस्यादि जन्य ब्रह्मविद्या करके यह अधिकारी विज्ञ पुरुष प्राप्त होता है इस अर्थको ब्रह्मा प्रतिपादन करते हैं इति।

और जो अपर वादी तथा कोई वेदान्त एकदेशी संसारको सत्य मानते हुये, तथा जीव परमात्माके एकत्वका प्रतिषेध करते हुये, जीवके स्वरूपमें जीव-त्वको पारमार्थिक कहते हैं। ब्रह्मात्मैकत्व विषयक सम्यग् दर्शनके विरोधी तिन सर्वके मतोंको प्रतिषेध करनेके लिये, और तिनोंके प्रतिबोधके लिये इस शारीरक शास्त्रका आरम्भ किया है। जैसे मायावी पुरुष अपनी माया करके अनेक रूपोंको धारण करता है। तैसे एक ही कूटस्थ नित्य विज्ञान स्वरूप जगदाधार परमेश्वर अपनी अविद्यारूप मायाशक्ति करके अनेक रूपोंसे प्रतीत होता है। वस्तुतः विज्ञान स्वरूप ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं है। अर्थात् ब्रह्म ही अविद्या करके संसारको प्राप्त होता है, 'अतः ब्रह्मसे भिन्न जीव नहीं है' यह हो शारीरक शास्त्रका अर्थ है इति।

शंका। यदि जीव व ब्रह्मका भेद सत्य न होवे; और जीव कर्ता भोक्ता न होवे; और स्वर्गादि संसार सत्य नहीं होवे; तो तदाश्रित जो कर्म व उपासना-विधि हैं सो व्यर्थ हो जावेंगी। और 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यादिक प्रजा-

पतिके वाक्यमें जीवकी आशंका करके 'नासम्भवात्' यह जो सूत्रकारका वचन है सो भी असङ्गत हो जावेगा। क्योंकि यह वचन अपहतपाप्मत्वादिक जो ब्रह्मके गुण हैं तिनका जीवमें असम्भवको कहता है। यदि जीव व ब्रह्मका वस्तुत अभेद सत्य होवे तो ब्रह्मके अपहतपाप्मत्वादि गुणोंका जीवमें असम्भव कथन असङ्गत होवेगा। अतः कर्ता भोक्ता जीव व ब्रह्मका भेद सत्य है ?

समाधान। **'तत्रायमभिप्रायः'** इत्यादि भा०। यहां पर सूत्रकारका यह अभिप्राय है कि—"जैसे असङ्ग आकाशमें तल मलिनतादिक कल्पित हैं; तैसे नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाववाला जो कूटस्थ नित्य एक अद्वितीय असङ्ग परमात्मा है; तिस परमात्मामें जो असङ्गत्वादिक धर्मोंसे विपरीत जीवत्व व कर्तृत्व भोक्तृत्वादिक धर्म हैं सो कल्पित हैं। तिन कल्पित जीवत्वादिकोंको; आत्मामें एकत्वकी प्रतिपादक युक्तियोंके सहित जीव व ब्रह्मकी एकताके प्रतिपादक 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों करके और 'नेति नेति' इत्यादिक द्वैतके निषेध करनेवाले श्रुतिवाक्यों करके हम दूर कर देवेंगे" इस विचारसे परमात्मामें असंसारित्वकी सिद्धिके लिये परमात्मामें जीव पदवाच्यसे भिन्नत्वको दृढ़ करते हैं। क्योंकि परमात्मामें असंसारित्वनिश्चयके विना परमात्मासे अभिन्नत्वको कहने पर भी जीवमें संसारित्वभ्रमकी निवृत्ति न बन सकेगी। और जैसे रज्जु सर्पका अधिष्ठान जो रज्जु है सो कल्पित सर्पसे भिन्न भी है, परन्तु कल्पित जो सर्प है सो रज्जुरूप अधिष्ठानसे पृथग् सत्तावाला नहीं है। तैसे देहत्रितयावच्छिन्न आभासरूप जीवका अधिष्ठान परमात्मा कल्पित जीवसे भिन्न भी है, परन्तु जीवमें परमात्मासे पृथग् सत्ताका अभाव होनेसे परमात्मासे भिन्नत्वके प्रतिपादनमें तात्पर्य नहीं है। किन्तु अविद्या करके कल्पित जो लोकप्रसिद्ध जीवका भेद है तिस भेदका 'द्वा सुपर्णा' 'नासम्भवात्' इत्यादिक शास्त्र व सूत्रकार अनुवाद करते हैं। क्योंकि पूर्वापर पर्यालोचन करनेसे सम्पूर्ण वेदान्तका "जीव अविद्याउपाधिकल्पित है, और एक अद्वितीय ही आत्मतत्त्व है" इसी अर्थमें ही तात्पर्य प्रतीत होता है। जैसे सत्य रज्जुके बन्धकत्वादिक धर्मोंका आरोपित सर्पमें सम्भव नहीं बन सकता है। और कल्पित सर्प रज्जुसे भिन्न भी नहीं है। इसी प्रकार सत्य ब्रह्मके अपहतपाप्मत्वादिक धर्मोंका कल्पित जीवमें सम्भव भी नहीं बन सकता है। और समारोपित जीव ब्रह्मसे भिन्न भी नहीं है। इस पूर्वोक्त रीतिसे कल्पित भेदके सिद्ध हुये स्वाभाविक कर्तृत्व भोक्तृत्वादिकोंका अनुवाद करके प्रवृत्त हुई जो कर्मविधि हैं सो भी विरोधको नहीं प्राप्त होती हैं इस प्रकार आचार्य व्यास भगवान् मानते हैं इति।

वस्तुतः वेदान्त प्रतिपाद्य जो शास्त्रका अर्थ है सो आत्माका एकत्व ही है। अत एव ब्रह्माभिन्न आत्मतत्त्वको ही सूत्रकार-**'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्'** **'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च'** इत्यादि सूत्रों करके दिखाते हैं। इस कहनेसे सूत्रकारने इन अपने सूत्रोंमें अभेदको नहीं कहा है यह भ्रान्ति भी निवृत्त हो गई।

शंका । यदि अद्वैत ही शास्त्रका अर्थ है तो द्वैतकी अपेक्षा करके प्रवृत्त जो विधि हैं तिनोंका विरोध होवेगा ।

समाधान । विद्वान् अविद्वान्के भेदसे हम कर्मविधिविरोधके परिहारका वर्णन 'अविद्यावत्पुरुषाश्रयत्वाच्छास्त्रस्य' इत्यादि अध्यासभाष्यके व्याख्यानमें कर आये हैं । अर्थात् अद्वैतको नहीं जाननेवाला पुरुषोंके लिये द्वैतसापेक्ष कर्मविधि हैं । और अद्वैतको जाननेवाले विज्ञ पुरुषोंके लिये नहीं हैं इति ॥ १६ ॥

शंका । यदि प्रजापतिके वाक्यसन्दर्भमें शोक भयादिविशिष्ट जीवका अनुवाद करके ब्रह्मके ही अपहतपाप्मत्वादिक धर्मोंका कथन किया है । और जीवमें उक्त धर्मोंका असम्भव होनेसे जीव दहराकाश नहीं हो सकता है, किन्तु परमात्मा ही दहराकाश है । तो इस प्रकार सिद्धान्तीके कथनसे जीवका परामर्श व्यर्थ होवेगा । अर्थात् 'अथ य एष संप्रसादः' इत्यादिक दहरवाक्यशेषमें जो सम्प्रसादरूप जीवका परामर्श किया है सो जीवका परामर्श अनर्थक हो जावेगा । क्योंकि यहां दहरवाक्यमें तुम परमात्माका ही कथन मानते हो । और जब परमात्माका ही कथन हुवा तब वाक्यभेदरूप दोषकी प्राप्तिके भयसे यह परामर्श जीवकी उपासनाका उपदेश भी नहीं बन सकेगा । तथा दहराकाशको सम्प्रसादरूप जीवसे भिन्न होनेसे प्रकृत दहराकाशके स्वरूपविशेषका उपदेशरूप भी यह परामर्श नहीं बन सकेगा इति ।

ऐसी शंकाके हुये सूत्रकार समाधान कहते हैं:—

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

अर्थ—१ अन्यार्थः, २ च, ३ परामर्शः । इस सूत्रमें तीन पद हैं । यह पूर्वोक्त जो जीवका परामर्श है सो जीवके स्वरूपमें पर्यवसानवाला नहीं है, किन्तु परमात्माके स्वरूपमें ही पर्यवसानवाला है । अर्थात् परमात्माकी उपासनाके लिये ही जीवका परामर्श है जीवकी उपासनाके लिये नहीं है इति ।

शंका । किस प्रकार परमात्माकी उपासनाके लिये जीवका परामर्श है ?

समाधान । सम्प्रसाद शब्द करके कथित जो जीव है सो जाग्रत् व्यवहारमें देह इन्द्रियरूप पञ्जरका अध्यक्ष होकर तथा जाग्रत् पदार्थोंके अनुभव जन्य संस्काररूप वासनावों करके निर्मित स्वप्नपदार्थोंका अनुभव करके श्रान्त हुवा जो नाडीमें विचरनेवाला जीव है; सो शरणकी प्राप्तिकी इच्छा करता हुवा; स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरमें आत्मत्वाभिमानको त्याग करके; सुषुप्ति अवस्थामें 'आकाश' शब्द करके कथित जो ज्योतिः स्वरूप पर ब्रह्म है तिसको विशेषविज्ञानके त्यागपूर्वक प्राप्त होता है । इस सुषुप्ति अवस्थामें यह जीव जाग्रत् स्वप्नरूप विक्षेप रहित हुवा सम्यक् प्रसन्न होता है । अतः 'सम्प्रसाद' इस नामसे कहा जाता

है। पुनः जाग्रत् व स्वप्नजनक कर्मके उदय होनेसे जाग्रत् आदिका अनुभव करता है। इसी प्रकार अनादि कालसे यह जीव जाग्रत स्वप्न व सुषुप्तिरूप संसारचक्रमें परिभ्रमण कर रहा है। जब अनेक जन्म परम्परा करके सञ्चित पुण्यपुञ्जका उदय होता है; तब सद्गुरुका समागम होता है। और सद्गुरुकी कृपापूर्वक तत्त्वमस्यादि वेदान्तका श्रवण मनन व निदिध्यासन करके 'तत्' व 'त्वम्' पदार्थके शोधन पूर्वक इस जीवको प्राप्त होनेको योग्य जो ज्योतिःस्वरूप परं ब्रह्म है तिस ब्रह्मको प्रत्यक् साक्षीरूप करके साक्षात्कार करता हुवा प्राप्त होता है। और "जो इसको प्राप्त होनेके योग्य पर ज्योतिःस्वरूप दहराकाश है और जिस रूपसे यह निष्पन्न होता है सो यही ब्रह्मरूप आत्मा अपहतपाप्मत्वादिक गुणवाला उपास्य है" इस अर्थको बोधन करनेके लिये यहां जीवका परामर्श है। अर्थात् उपाधिकल्पित जीवमें ब्रह्मभाव उपदेश करनेको योग्य है। और जीवके परामर्शसे विना ब्रह्मभावका उपदेश बन सकता नहीं। अतः तीनों अवस्थावोंमें जीवका परामर्श किया है। तथा "जीवभावका विलयरूप जो ब्रह्मभाव है सोई जीवका पारमार्थिक स्वरूप है" इस अर्थको दिखानेके लिये भी जीवका परामर्श किया है। इस प्रकार यह जीवका परामर्श परमेश्वरवादीके मतमें भी बन सकता है इति ॥ २० ॥

किञ्च:—

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

अर्थ—१ अल्पश्रुतेः, २ इति, ३ चेत्, ४ तत्, ५ उक्तम्। इस सूत्रमें पांच पद हैं।

प्रश्न—'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इस श्रुतिमें श्रूयमाण जो अल्पत्व है सो सर्वगत परमात्मामें नहीं बन सकता है। और अरके अग्रभाग करके उपमित जो जीव है तिसमें अल्पत्व बन सकता है। अतः जीव ही उपास्य है परमात्मा नहीं ? यह जो वादीने पूर्व कहा है तिसका परिहार कहना चाहिये।

उत्तर—इस शंकाका परिहार 'अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च' इस सूत्र (१।२।७) में हम कह आये हैं। तिस परिहारका ही यहां अनुसन्धान कर लेना। इस अर्थको 'तदुक्तम्' पदसे व्यास भगवान् सूचन करते हैं। अर्थात् अल्प हृदयादिक उपाधि करके सर्वगत परमात्मामें भी अल्पत्व बन सकता है। अतः परमात्मा ही यहां उपास्य है जीव नहीं इति।

किञ्च 'यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश' यह श्रुति ही आकाशकी उपमा करके दहराकाशमें अल्पत्वका खण्डन कर चुकी है। इस हेतुसे भी दहराकाश जीव नहीं हो सकता है इति। इस पूर्वोक्त रीतिसे दहरवाक्य तथा प्रजापतिवाक्य क्रमसे सगुण तथा निर्गुण ब्रह्ममें समन्वित हैं यह सिद्ध हुवा इति ॥ २१ ॥

इति दहराधिकरणं समाप्तम् ॥

अब 'परं ज्योतिरुपसंपद्य' इत्यादिक वाक्यके अर्थका विचारके प्रसङ्गसे 'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' इस वाक्य करके उक्त जो परंज्योतिष्ट्व है तिसका साधक—'न तत्र सूर्य्यो भाति' इत्यादिक वाक्यका विचार करते हैं:—

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

अर्थ—अनुकृतेः, २ तस्य, ३ च। इस अधिकरणसूत्रमें तीन पद हैं। 'न तत्र सूर्यो भाति' इस मन्त्रकरके सर्वका भासक परज्योतिः ब्रह्म ही प्रतिपादित है। क्योंकि 'अनुकृतेः' 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' यह अनुकृति ब्रह्मके परिग्रहसे ही घटती है। 'अनुकृति' नाम, अनुकरणका है। अर्थात् प्रसङ्गमें प्राज्ञरूप आत्माके भानसे पश्चात् जो सूर्यादिकोंका भान है तिसका नाम 'अनुकृति' है। और 'तस्य च' कहिये 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' यह सर्व भानका हेतुत्व भी ब्रह्मके परिग्रहसे ही घटता है इति।

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्ड २। १०) इस प्रकार आर्थवण उपदेश करते हैं। अर्थ—यद्यपि आदित्य सर्वका प्रकाशक है तथापि तिस स्वात्मरूप ब्रह्ममें सो भी नहीं भासता है। अर्थात् तिस ब्रह्मको प्रकाश नहीं कर सकता है। किन्तु इस आत्मरूप ब्रह्मके प्रकाशसे प्रकाशित हुवा ही आदित्य जगत्को प्रकाशता है। और चन्द्रमा तथा तारागण भी तिस ब्रह्मको नहीं प्रकाश कर सकते हैं। तथा अतिज्योतिष्ट्वरूप करके जगत्प्रसिद्ध जो विद्युत् है सो भी तिस ब्रह्मको नहीं प्रकाश कर सकती है। जब सूर्यादिक भी तिस ब्रह्मको नहीं प्रकाश कर सकते हैं तब हमारे लोगोंकी दृष्टिका विषय जो यह अग्नि बिचारा है सो किस प्रकार तिस ब्रह्मको प्रकाश कर सकेगा अर्थात् नहीं कर सकेगा। और देदीप्यमान उक्त ब्रह्मस्वरूपके विद्यमान हुये ही सम्पूर्ण सूर्यादिक प्रकाशित होते हैं। अर्थात् जैसे वह्निके तापसे तप्त हुवा लोह अन्यको तपाता है। तैसे ही स्वप्रकाश ब्रह्मरूप आत्मप्रकाशसे प्रकाशित हुये ही आदित्यादिक अन्यको प्रकाशते हैं। स्वतन्त्र प्रकाशकत्व आदित्यादिकोंमें नहीं है इति। **यह श्रुति इस अनुकृतिअधिकरणका विषयवाक्य है।**

'न तत्र सूर्यो भाति' इस मन्त्रमें "तत्र" यह शब्द सप्तमी विभक्त्यन्त है। तहां सप्तमी विभक्तित्व सति सप्तमी तथा विषयसप्तमी इन दोनोंमें साधारण है। अतः संशय होता है। अर्थात् सतिसप्तमी स्वीकार करके "जैसे सूर्यके विद्यमान हुये चन्द्रादिकोंका भान नहीं होता है तैसे ही जिस वस्तुके विद्यमाम हुये सूर्यादिकोंका भान नहीं होता है" यह अर्थ स्वीकार करना? अथवा विषयसप्तमी स्वीकार करके "जिस वस्तु विषे सूर्यादिकोंका भान नहीं होता है" यह अर्थ स्वीकार करना? यह प्रथम संशय है।

और जिसके भानके पीछे सर्वका भास सामान्य रूपसे होता है, और जिसकी

भासासे यह सर्व सूर्यादि जगत् विशेष रूपसे भासता है सो क्या तेजविशेष है? अथवा प्राज्ञरूप आत्मा है? ऐसा यहां द्वितीय **संशय** होता है इति।

अथ **पूर्वपक्ष**। जैसे पूर्व दहराधिकरणमें 'एष आत्मा' इस वाक्यशेषमें आत्मशब्दका श्रवण होनेसे आकाश शब्दकी जो भूताकाशमें रूढ़िशक्ति है तिसको त्याग किया है। अर्थात् आकाश शब्द करके भूताकाशको त्याग कर परमात्माका ग्रहण किया है। तैसे ही प्रसङ्गमें सति सप्तमी को स्वीकार करके इस विभक्तिके बलसे 'न तत्र सूर्यो भाति' यहां वर्तमान अर्थवाला जो 'भाति' यह शब्द है तिसका वर्तमान अर्थको त्याग करके भविष्यत् अर्थ करना चाहिये। अर्थात् 'न भाति' इस स्थानमें 'न भास्यति' पाठ समझना। तथाच "जिस वस्तुके विद्यमान हुये सूर्यादिक भासमान न होवेंगे सो तेजविशेष उपास्य है" इस प्रकार भविष्यत् अर्थमें इस शब्दकी वृत्ति माननी। क्योंकि वर्तमानमें सूर्यादिकोंको भासमान हुये 'सूर्यादिकोंका भान नहीं होता है' यह कहना विरुद्ध है इसी अर्थको भाष्य करके दिखाते हैं—

अत एव **'तेजोधातुरिति'** भा०। अर्थात् यहां उपासना करनेको योग्य तेजोधातु है अर्थात् तेजरूप वस्तुविशेष है। क्योंकि तेजरूप सूर्यादिक पदार्थोंके ही भानका प्रतिषेधरूप लिङ्गको यहां कहा है। जैसे "तेज स्वभाववाले सूर्यके भासमान हुये दिनमें तेजस्वभाववाले ही चन्द्र तारा आदिकोंका भान नहीं होता है" यह वार्ता प्रसिद्ध है। तैसे जिस तेजके विद्यमान हुये सूर्यके सहित चन्द्रतारादिक सम्पूर्ण तेजोंका भान नहीं होवेगा। सो भी तेजस्वभाववाला ही कोई उपास्य तेजविशेष निश्चित होता है।

शंका। जिसके विद्यमान हुये सूर्यादिकोंका भान नहीं होता है। और जिसके भानसे अनन्तर सूर्यादिकोंका भान होता है यह कहना विरुद्ध है। अतः 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' यह श्रुतिप्रसिद्ध अनुभान नहीं बन सकता है इति।

समाधान। यह सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है क्योंकि जैसे 'गच्छन्तमनुगच्छति' 'गमन करनेवाले पुरुषके पीछे दूसरा पुरुष गमन करता है' यहां समान स्वभाववालोंमें ही अनुगमनादिरूप अनुकरण देखनेमें आता है। तैसे अनुभान भी तेजोधातुके समान स्वभाववाले सूर्यादिकोंमें बन सकता है।

शंका। ऐसा कहनेसे भी पूर्वोक्त विरोधका वारण तो नहीं हुवा, किन्तु ज्योंका त्यों बना ही रहा इति।

समाधान। यह भी सिद्धान्तीका कहना असङ्गत है, क्योंकि यहां 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इस मन्त्रका यह अर्थ विवक्षित है कि:—जो तेजोधातुका स्वरूप व भान है तिससे सूर्यादिकोंका स्वरूप व भान निकृष्ट है। और तेजोधातुके भानसे पीछे सूर्यादिकोंका भान होता है। यह अर्थ विवक्षित नहीं है। अतः पूर्वोक्त जो

विरोधरूप दोष कहा सो नहीं बन सकता है। इस पूर्वोक्त रीतिसे उपासना करनेके योग्य कोई तेजोधातुविशेष ही है यह सिद्ध हुवा इति।

अथ **सिद्धान्तपक्ष।** इस प्रकारका पूर्वपक्षके प्राप्त हुये सिद्धान्ती कहता है कि—जहां मुख्य अर्थका सम्भव है तहां अमुख्य अर्थकी विवक्षा नहीं बन सकती है। अतः मुख्य अनुभानरूप लिङ्गसे स्वयंप्रकाश स्वरूप सर्वका भासक परमात्मा ही प्रसङ्गमें ग्राह्य है। इस अर्थको भाष्यकार भगवान् दिखाते हैं:— **'प्राज्ञ एव आत्मा भवितुमर्हति'** इत्यादि। अर्थ—'न तत्र सूर्यो भाति' यहां विषयमें ही सप्तमी विभक्ति है। जिसको सूर्यादिक प्रकाश नहीं कर सकते हैं सो प्राज्ञरूप आत्मा ही यहां उपास्य है इति। क्योंकि अनुकरणरूप अनुकृति हेतु यहां विद्यमान है। और 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इस वचन करके कहा हुवा जो यह अनुभान है सो प्राज्ञके ग्रहणसे ही समीचीन होता है। यहां 'प्राज्ञ' नाम स्वप्रकाश चेतनका है। तथा **'भारूपः सत्यसंकल्पः'** इत्यादिक श्रुति भी प्रकाशस्वरूप तथा सत्य संकल्पवालेको प्राज्ञरूप आत्मा ही कथन करती हैं; प्राज्ञरूप आत्मासे भिन्न किसी तेजविशेषरूप वस्तुको नहीं। क्योंकि तेजविशेषमें सत्य संकल्पादिक बने नहीं; और 'किसी तेजविशेषके पश्चात् सूर्यादिकोंका भान होता है' इस अर्थमें कोई प्रमाण भी नहीं है। सूर्यादिक तेजरूप धातुवोंको सम होनेसे स्वभानमें अन्य तेजकी अपेक्षा भी नहीं बन सकती है; जिसके भानके पीछे सूर्यादिक भासें। क्योंकि प्रदीप अपने भानमें अन्य प्रदीपकी अपेक्षा नहीं करता है।

अर्थात् **'सूर्यादयस्तेजोऽन्तरभानमनु न भान्ति, तेजस्त्वात्, प्रदीपवत्'।** जैसे दीपकरूप तेजमें तेजस्त्वरूप धर्मको विद्यमान होनेसे दूसरे तेजके भानके पीछे दीपकका भान नहीं होता है। अर्थात् दीपक अपने प्रकाशमें अन्य दीपादि तेजकी अपेक्षा नहीं करता है। तैसे सूर्यादिकोंमें भी तेजस्त्वरूप सामान्य धर्मको विद्यमान होनेसे दूसरे तेजके भानके पश्चात् सूर्यादिकोंका भान नहीं हो सकता है। अर्थात् सूर्यादिकोंको अपने भानके निमित्त अन्य तेजकी अपेक्षा नहीं है।

किञ्च पूर्वपक्षीने जो प्रथम कहा था कि—समान स्वभाव (जाति) वालोंमें ही अनुकरण देखनेमें आता है, अतः 'न तत्र सूर्यो भाति' इस मन्त्र करके उपास्य सूर्यादिकोंके समान जातिवाला तेज ही मानना चाहिये? यह भी वादीका कहना असङ्गत है, क्योंकि समान जातिवालोंमें ही अनुकरण होता है यह अव्यभिचरित नियम नहीं है। भिन्न स्वभावालोंमें भी अनुकरण देखा गया है। जैसे अत्यन्त संतप्त जो अयःपिण्ड है सो विजातीय अग्निका अनुकरण करता है— **'अग्निं दहन्तमनु दहति'** अर्थात् दहन करनेवाले अग्निके पीछे अयःपिण्ड दहन करता है। तथा पृथिवीका जो रज है सो विजातीय वायुके वहते हुये पश्चात् वहता है। तैसे प्राज्ञरूप आत्माके भान हुये विजातीय सूर्यादिकोंका भान हो सकता है इति।

शंका। 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' तिस प्राज्ञरूप आत्माके भानके

पश्चात् ही सूर्यादिकोंका भान होता है। और 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' 'तिस प्राज्ञरूप आत्माकी दीप्ति करके सम्पूर्ण सूर्यादिकोंका भान होता है' इन दोनों पादोंके अर्थोंको समान होनेसे यहां पुनरुक्ति दोष प्रतीत होता है। अर्थात् 'अनुकृतेस्तस्य च' इस सूत्रमें प्राज्ञरूप आत्माके साधक दो हेतु हैं:—एक तो अनुकृति है, दूसरा 'तस्य' यह शब्द है। 'अनुकृतेः' यह जो अनुकृति है सो 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इस तृतीयपाद करके प्रतिपाद्य अनुभानका सूचक है। और 'तस्य' यह जो शब्द है सो 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इस चतुर्थ पादका बोधक है। इस कहनेसे तृतीय व चतुर्थपाद हो हेतु सिद्ध हुये। और पूर्वोक्त रीतिसे जो अनुकृतिरूप हेतुका अर्थ है सोई 'तस्य' इस हेतुका अर्थ है अतः पुनरुक्तिदोषकी प्राप्ति हुई इति।

समाधान। 'तमेव भान्तम्' इस मन्त्रमें स्थित एवकार करके उक्त जो तिस प्राज्ञरूप आत्माके भानसे विना सम्पूर्ण सूर्यादिकोंका पृथग् भानका अभावरूप अनुभान है। अर्थात् जो प्राज्ञात्माका भान है सोई सूर्यादिकोंका भान है पृथग् नहीं। तिस अनुभानको सूत्रमें 'अनुकृति' शब्द करके कहा है। और सर्वका भासकत्वरूप अर्थको 'तस्य भासा' इत्यादि पाद करके कहा है। अतः दोनों हेतुवोंके अर्थोंको विभिन्न होनेसे पुनरुक्ति दोषकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। और 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इस मन्त्र करके कहा हुवा जो सूर्यादि पदार्थोंके भानका हेतु 'तस्य' इस तदर्थका भान है, सो भी 'तत्' शब्दका अर्थ 'प्राज्ञरूप आत्मा है' इसी अर्थको बोधन करता है।

और सूर्यादिकोंका भासकत्व जो आत्मामें कहा है सो बृहदारण्यक श्रुतिमें भी मन्त्र उपदेश करते हैं तहां श्रुति—**'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्'**। **अर्थ**—जिस परमेश्वरको कार्यमात्रका परिच्छेदन करनेवाला क्षण, मुहूर्त, याम, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, सम्वत्सरादिरूप काल भी परिच्छिन्न नहीं कर सकता है। तिस परमेश्वरको सूर्यादिक ज्योतियोंका प्रकाशक ज्योतिरूप करके तथा अमृत आयुरूप करके देवता उपासना करते हैं, यह श्रुति भी प्राज्ञ आत्माको ही कथन करती है इति। इत्यादि। और तेजो अन्तर करके सूर्यादिक तेज प्रकाशित होते हैं यह वार्ता अप्रसिद्ध है। तथा विरुद्ध भी है। क्योंकि दूसरे तेज करके दूसरे तेजका प्रति*घात होता है इति।

---

*टि०—किञ्च सूर्यादिसे भिन्न तेज उपास्य है इस मतमें सूर्यादिकसे अपकृष्ट तेज उपास्य है अथवा उत्कृष्ट उपास्य है? हीनउपासनाप्रसङ्गरूप दोषसे अपकृष्ट तेजको उपास्य नहीं कह सकते हैं। सूर्यादिसे उत्कृष्ट तेजको भी उपास्य नहीं मान सकते हैं। क्योंकि इस पक्षमें 'न तत्र सूर्यो भाति' इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य जो 'तत्' पदार्थ है "तिसके भान करके अनुगृहीत भानवाले सूर्यादिक सर्व पदार्थ हैं" इस अर्थको कहनेवाली 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' यह श्रुति अनुपपन्न हो जावेगी अर्थात् उत्कृष्ट सूर्यादिक तेजसे व तद्भानसे अपकृष्ट नक्षत्रादिक तेजका व तद्भानका अनुग्रह नहीं देखा गया है, बल्कि प्रतिघात अर्थात् अभिभव देखा गया है। अतः 'न तत्र' इस मन्त्र करके पर ब्रह्म ही ज्ञेय है तेज नहीं।

और 'सर्वमिदं विभाति' यहां जो 'सर्व' शब्द है तिसका केवल सूर्यादिक तेजमात्रका वाचकत्वेन व्याख्यान किया है। अब सूर्यादिक निखिल पदार्थ-वाचकत्वेन व्याख्यान करते हैं—'अथवा' इत्यादि भा०। जैसे यत्किञ्चिद् रूपकी ही अभिव्यक्ति सूर्यादिनिमित्तक है यह वार्ता नहीं, किन्तु सम्पूर्ण रूप स्वरूप जगत्की अभिव्यक्ति सूर्यादिरूप ज्योतिकी सत्ता निमित्तक है। तैसे ही 'न तत्र सूर्यो भाति' इस श्लोक पठित जो सूर्यादिक हैं तिनोंका ही केवल प्राज्ञरूप आत्माके अधीन भानको 'तस्य भासा' यह मन्त्र नहीं कहता है। किन्तु 'सर्वमिदम्' इस अविशेषका श्रवण होनेसे निखिल नामरूप क्रियाकारकफलसमूहरूप प्रपञ्चकी जो भानरूप अभिव्यक्ति है सो सर्व ब्रह्मरूप ज्योतिकी सत्ता निमित्तक ही है इस अर्थको कहता है।

किञ्च 'न तत्र सूर्यो भाति' यह जो मन्त्र है सो 'तत्र' इस सर्वनामको 'आहरन्' कहिये ग्रहण करता हुवा प्रकृत वस्तुके ग्रहणको ही दिखाता है। अर्थात् यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम्' (मु० २।२।५)। इस मन्त्र करके प्रकृत जो ब्रह्म है तिस ब्रह्मका परामर्शी 'तत्र' शब्द है, क्योंकि सर्वत्र 'तत्र' शब्द पूर्वोक्त अर्थका ही परामर्शक होता है।

किञ्च स्पष्ट ब्रह्मका बोधक जो 'यस्मिन् द्यौः' यह मन्त्र है सो "प्राज्ञरूप परमात्माका ही बोधक है दूसरेका बोधक क्यों नहीं" इस आकाङ्क्षाका पूरक जो 'यस्मिन् द्यौः' इस मन्त्रसे अग्रिम मन्त्र है सो ब्रह्मपरक है। तिस अग्रिम मन्त्रको दिखाते हैं—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलं। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।' अर्थ—ज्योतिर्मय, तथा अन्नमयादिक कोशकी अपेक्षासे पर, तथा कोशकी तरह आत्माका आच्छादक, जो आनन्दमय कोश है तिस आनन्दमयकोशमें 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य जो पुच्छप्रतिष्ठारूप ब्रह्म है सोई अधिष्ठान है, तथा आगन्तुक रागद्वेषादिक मल करके रहित होनेसे विरज है, तथा निरवयव है, तथा अनादि अविद्यादि मलसे रहित है, अतः शुभ्र है। तथा ज्योतियोंका ज्योति है अर्थात् सूर्यादिकोंका साक्षीरूप है। और यह जो आत्मतत्त्व है सो ब्रह्मवित् पुरुषोंको अनुभव सिद्ध है इस आत्मतत्त्वको विवेकी पुरुष जानते भये इति।

और पर ब्रह्म ज्योतियोंका ज्योतिरूप किस प्रकार है? ऐसी शंकाके हुये 'न तत्र सूर्यो भाति" इस मन्त्रका उत्थान हुवा है। अतः "न तत्र सूर्यो भाति" यह मन्त्र पर ब्रह्मका ही प्रतिपादक है इति।

शंका। 'तत्र' यहांपर सति सप्तमी होनेसे जैसे सूर्यके विद्यमान हुये इतर तेजोंका अभिभव होता है। तैसे कोई तेजविशेषको विद्यमान हुये ही सूर्यादिक तेजोंका अभिभव होवेगा। अतः 'न तत्र' इस मन्त्रमें सूर्यादिका अभिभावक कोई तेजविशेष ही उपास्य है ऐसा हम कह आये हैं'?

समाधान। प्राज्ञरूप आत्मा ही तेजोधातु है प्राज्ञसे भिन्न किसी तेजोधातु-विशेषका यहां सम्भव नहीं बन सकता है। यह अर्थ उपपन्न हो चुका है क्योंकि। सूर्यादिकोंका अभिभावक कोई भौतिक तेज प्रसिद्ध है नहीं। यदि किसी प्रमाणसे

ऐसा तेज सिद्ध होता तो तिसकी आशंका 'न तत्र' इस मन्त्रमें होती। और 'तत्र' यह जो शब्द है सो सर्वत्र पूर्व प्रसिद्धका ही परामर्शक है। अतः ब्रह्म विषे ही सूर्यादिक तेजके भानका निषेध बन सकता है। अर्थात् सति सप्तमी पक्षमें सूर्यादिकोंके भानका निषेध नहीं बन सकता है। क्योंकि वर्तमानमें सूर्यादिकोंका भान प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस प्रत्यक्ष सिद्ध विरोधके वारणके लिये 'न भाति' यहां पर श्रुत जो मुख्य अर्थ वर्तमानत्व है तिसको त्याग करके जिस तेजविशेषके विद्यमान हुये 'न भास्यति' 'सूर्यादिकोंका भान नहीं होवेगा' इस अश्रुत भविष्यत्वकी कल्पना गौरवदोष करके ग्रस्त है। इस कल्पनाकी अपेक्षासे विषय सप्तमी पक्षमें लाघव है। अर्थात्—"जिस प्राज्ञरूप आत्मा विषे सूर्यादिक नहीं प्रकाश करते हैं" इस अर्थके लाभके लिये 'न तत्र सूर्यो भाति' इस मन्त्रमें 'भाति' की जगह 'भासयति' ऐसा पढ़ना। इस रीतिसे मुख्य वर्तमानत्वरूप श्रुत अर्थका त्याग नहीं होता है, किन्तु केवल णिच् प्रत्ययका अध्याहार होता है। अतः लाघव है इति।

और घटादिकोंके भासक जो सूर्यादिक प्रतीत होते हैं तिन सम्पूर्ण ज्योतियोंका भान ब्रह्मरूप ज्योतिः करके ही होता है। क्योंकि सूर्यादिक जो हैं सो अन्य करके भास्यत्वरूपसे ही ब्रह्ममें प्रतीत होते हैं। और ब्रह्मको स्वयं ज्योतिरूप होनेसे अन्य ज्योतिः करके ब्रह्मका उपलम्भ नहीं बन सकता है। अर्थात् ब्रह्ममें प्रकाश्यता है नहीं जिससे सूर्यादिक ब्रह्मका प्रकाश करें; किन्तु ब्रह्म ही अन्य सूर्यादिकोंको अभिव्यक्त करता है। और ब्रह्म अन्य सूर्यादिकों करके अभिव्यक्त नहीं होता है इति।

और आत्मामें जो स्वप्रकाशत्व है, तथा अन्य करके अभास्यत्व है, तिसमें भी श्रुतियोंको दिखाते हैं--**'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते'**। अर्थ– स्वप्न अवस्थामें सूर्य चन्द्रमा अग्नि वागादिरूप ज्योतियोंके अभाव हुये भी यह पुरुष आत्मारूप ज्योतिः करके ही व्यवहारको करता है इति। **'अगृह्यो न हि गृह्यते'**। अर्थ– ग्रहणके योग्य न होनेसे आत्मा अग्राह्य है। अर्थात् अन्य करके प्रकाशित नहीं होता है इति। इत्यादि ॥२२॥

और 'न भाति' यहां जो णिच् प्रत्ययका अध्याहार किया है तिसमें स्मृतिप्रमाणको दिखाते हैं:—

अपि च स्मर्यते ॥ २३ ॥

अर्थ—१ अपि, २ च, ३ स्मर्यते। इस सूत्रमें तीन पद हैं। किञ्च भगवद्गीतामें भी 'न तत्र सूर्यो भाति' इस मन्त्र करके प्रतिपाद्य प्राज्ञ आत्माका जैसा स्वरूप कहा है तैसा ही पूर्वोक्त स्वरूपका स्मरण किया है— **'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'**। अर्थ—जिस ज्योतिरूप ब्रह्मको प्राप्त होकर अधिकारी जन पुनरावृत्तिको नहीं प्राप्त होते हैं, तिस ब्रह्मरूप प्राज्ञको सूर्यचन्द्रमा व अग्नि आदिक नहीं प्रकाश कर सकते हैं; सोई मेरा परम धाम है इति। **'यदादित्यगतं तेजो**